मेरा नाटक-काल

लेखक
कविरत्न पं० राधेश्याम कथावाचक,
बरेली।

प्रथमावृत्ति १००० } १९५७ { मूल्य २ रु० ५० नए पैसे

प्रकाशक—
श्रीराधेश्याम-पुस्तकालय,
बरेली ।

मुद्रक—
पण्डित रामनारायण पाठक,
श्रीराधेश्याम-प्रेस,
बरेली ।

* दो शब्द *

परम सम्मानीय वयोवृद्ध प० राधेश्यामजी कथावाचक ने अपनी वाणी और लेखनी के द्वारा हिन्दी साहित्य और भारतीय संस्कृति की जो सेवा की—उसमें उनके नाटकों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

'मेरा नाटक काल' लिखकर आपने—'नाटक-साहित्य' के लिए की गई सेवाओं का सजीव चित्र उपस्थित कर दिया है। नाटककार के दृष्टिकोण से लिखा गया आपका यह आत्मचरित-साहित्यकारों के लिए प्रेरणा का स्रोत है। इसमें सन्देह नहीं कि इस स्रोत में आपके अन्तस्तल की ध्वनि पद-पद पर सुनाई देती है।

पण्डितजी अपने बाल्यकाल में ही नाटकों की ओर आकृष्ट हुए थे। 'न्यू अल्फ़्रेड' कम्पनी में आपको भरती करने की इच्छा पिताजी के हृदय में उत्पन्न हुई थी। किन्तु भगवान् का संकल्प आपको कथावाचक बना रहा था। आप कथावाचक बने—महर्षि वाल्मीकि और गोस्वामी तुलसीदास के समान—अपनी रामायण लेकर। कथावाचक के रूप में आपकी सारे देश में ख्याति हुई।

किन्तु अवसर आने पर आपने नाटककार के उत्तरदायित्व का भार भी ग्रहण कर ही लिया। 'न्यू अल्बर्ट' कम्पनी के 'रामायण नाटक' का संशोधन करने के बाद—आपने अपनी बुद्धि का विनियोग इस दिशा में इतनी योग्यता के साथ किया कि 'न्यू अल्फ़्रेड' कम्पनी के रंगमंच पर 'वीर अभिमन्यु' ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की।

इस से पूर्व रंगमंच पर उर्दू चल रही थी, हिन्दी को लाने का साहस किसी में न था। हिन्दी नाटकों का लेखन तो—भारतेन्दु ने आरम्भ कर दिया था—तो भी ऐसे नाटक सर्वसाधारण के नेत्रों को सन्तुष्ट न कर सके।

हिन्दी को रंगमंच पर लाने का श्रेय—बहुत कुछ—नाटक प्रदर्शित करने का व्यवसाय करने वाली पारसी कम्पनियों ही को है, और उनमें भी 'वीर अभिमन्यु' से पहले इतने हिन्दीत्व का कोई नाटक स्टेज पर नहीं आया।

'वीर अभिमन्यु' और उसके बाद आपके परिवर्तन, प्रह्लाद, श्रीकृष्णावतार, रुक्मिणीमंगल, श्रवणकुमार, ईश्वरभक्ति, द्रौपदी स्वयम्वर, शकुन्तला, महर्षि वाल्मीकि, सती पार्वती आदि ने—दर्शकों का मनोरंजन ही नहीं किया—अपितु जिसने एक बार भी देखा अथवा एक बार भी पढ़ा—वह भारतीय आदर्श से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। मानना पड़ेगा कि पण्डितजी के शब्दों में ओज है, सम्वादों में चेतना है तथा विचारों में प्रेरणा देने की सामर्थ्य है। यह सब इसीलिए हो सका है कि पण्डितजी ने जो कुछ लिखा है—वह विषय में डुबकी लगाकर—तन्मय होकर लिखा है। इतना ही क्यों—संचालन से लेकर अभिनय तक—सारी ही योग्यताएँ आप में प्रस्फुटित हुई हैं। तभी तो लाहौर में एक दिन आप हारमोनियम ले बैठे थे और लखनऊ में 'परिवर्तन' के 'शम्भू दादा' बनकर आप प्रकट हुए थे।

आपकी नाटककारिता का विलय यदि फ़िल्मकारिता में हुआ होता, और यदि आज आप के तत्त्वावधान में श्रीराम-कृष्ण के आदर्श चलचित्र सर्वसाधारण के सम्मुख होते तो—सचमुच आपकी प्रतिभा का अधिक उपयोग हम लोगों के लिये होता। आपके 'सत्यनारायण' की स्टोरी में सम्वाद ख़ूब चमके ही हैं। रामायण और कृष्णायन के समान राम-कृष्ण के चलचित्र भी भारतीयता की प्रतिष्ठा करते—तो कैसा अच्छा होता! पर—अभी तक ऐसा नहीं हो पाया है।

चलचित्र के लिए उपयोगी श्रीराम और श्रीकृष्ण सम्बन्धी पहले भाग पूर्ण रूपेण आपके पास लिखे तैयार हैं। सुदामा, और धना भगत की कथायें, 'सुख कहाँ' और 'उद्धार' भी आपके पास तैयार हैं। कितना सुन्दर हो कि इनका शीघ्र उपयोग हो और पंडितजी के जीवन के शेष दिन छायाचित्रों में फैली हुई गन्दगी को मिटाने में सफल हों। भगवान्—पण्डितजी को शतायु करें—जिससे उन के द्वारा देश की यह महान सेवा भी हो।

श्रीआचार्यपीठ
बरेली। } राघवाचार्य।

मेरा-नाटक-काल

बाल्यावस्था

२५ नवम्बर सन् १८९० ईस्वी, सोमवार की शाम को ८ बजे (इष्ट ३३-४० पर) बरेली, मोहल्ला बिहारीपुर, गली कामारथियान, में मेरा जन्म हुआ था। जिस मकान में जन्म हुआ था-वह छोटा सा-कच्ची दीवारों का-एक खपड़ैल और दो छप्परों वाला था। मेरे पिता जी (श्री प० बाँकेलाल जी) को यह मकान उनके नाना द्वारा मिला था—पिता जी की उस समय केवल इतनी ही सम्पत्ति थी।

इस मकान से पूरब को एक बड़ा महल सा था—"राजा चित्रकूट का महल" उसे कहा करते थे। बरेली आने वाली 'नाटक कम्पनियाँ' रहने के लिए प्रायः इसी 'महल' को किराये पर लिया करती थीं—'कम्पनियों' की 'रिहर्सलें' (तालीमें) भी इसी 'महल' में प्रायः होती थीं-जिनकी 'आवाज़ें' और 'गानों' की धुनें' मेरे पछाँव वाले कच्चे मकान में ख़ूब आया

करती थीं—और मैं (चार-पाँच वर्ष वाला) बड़े ध्यान और चाव से उन्हें सुना करता था।

मेरे पिताजी नाटक प्रेमी तो नहीं थे—पर गाने के शौक़ीन ज़रूर थे, कई रागिनियाँ भी जानते थे—आवाज़ पाटदार थी—ख़ूब गाते थे। रामलीला में वे जब चौपाइयाँ गाते थे—तो धूम मच जाती थी। उन दिनों चंग बजाकर 'लावनी' गाने का भी बड़ा रिवाज था—पिताजी इस में भी बड़ी दिलचस्पी लेते थे। मैं ऐसे अवसरों पर प्रायः उनके साथ ही रहता था।

मुझे भी पिताजी ने हारमोनियम और गाना सिखा ही दिया; अपनी आठ वर्ष की अवस्था में—मैंने भी रामलीला में जब चौपाई गाई तो मेरी पीठ ख़ूब ठोकी गई। उस समय के बरेली के लीडिंग वकील पण्डित शालग्रामजी ने तत्काल मुझे आशीर्वाद के साथ जब १) पुरस्कार दिया तब मेरी ख़ुशी का ठिकाना नहीं था।

बरेली की जनता में गाने बजाने का शौक़ तो सदा ही रहा है—पिछली सदी में तो यह शौक़ बेहद ही था। घर घर में ढोलक बजा करती थी—रामायण गाई जाती थी। रुक्मिणी-मङ्गल की कथायें होती थीं; रासलीलायें, रामलीलायें, स्वाँग, नाटक, नाच-मुजरे—सभी की तो धूम रहती थी—चातुर्मास (चौमासे) में तो ख़ास तौर पर यह रंग—रहता था। ऐसे ही

वातावरण में मैंने हारमोनियम और गाना सीख ही नहीं लिया—उसके नशे में—सराबोर सा होगया :—

"रग रग में यह तपिश जो समाई हुई सी है।
यह मय तो पी नहीं है—पिलाई हुई सी है॥

नाटक कम्पनियों में—बम्बई की 'न्यू अल्फ्रेड' यहाँ बहुत आती थी। शायद हर दूसरे या तीसरे साल आजाती थी। कम्पनी बम्बई से जब चलती थी—तो पहला स्टेशन 'बरेली' ही होता था। बरेली दीवानी थी उस कम्पनी पर। सुना है कि भिश्ती मशकें बेचकर भी उस कम्पनी के नाटक देखने जाते थे। 'अलादीन'—'अलीबाबा' और 'चन्द्रावली' नाटक तब खूब चलते थे—इन्हीं के गीत—गली गली लोग गाते फिरते थे।

बिजली तब नहीं थी, गैस के हण्डे भी नहीं थे;—मशालें जला करती थीं, फिर भी चार आने से लेकर तीन रुपये तक के दर्जे ठसाठस भरे रहते थे।

उन दिनों 'ललित-कला' से जनता का इतना ज्यादा लगाव होने का सबसे बड़ा कारण यह था—कि 'बेफ़िक्र ज़िन्दगियाँ' थीं, थोड़ी आमदनी ही में पारिवारिक खर्च पूरे हो जाया करते थे—बल्कि कुछ बच भी रहता था। भोजन में सादगी थी—सिर्फ़ एक दाल बनगई और उसके साथ रोटी खाली। जाड़ों में उड़द की दाल, गर्मियों में अरहर की दाल

और बरसात में मूँग की दाल। मसूर और मल्का मसूर, कढ़ी और खीर, बड़ी और मँगौड़ी तो कभी कभी होती थीं—और वह भी कोई महमान आगया तो होती थीं। चावल, अरहर की दाल के साथ होते थे, या खिचड़ी में। जाड़ों भर तो दोपहर को खिचड़ी ही प्रायः होती थी—और वह भी उड़द की खिलमा। हाँ—घी बड़ा शुद्ध मिलता था—'बनस्पति' का तो कोई नाम ही नहीं जानता था। प्रायः घरों में गाय या भैंस रहती थीं। उनका दूध, दही, मक्खन, मठा रोज़ मिला करता था—और उसका सब प्रबन्ध घर की बड़ी बूढ़ी ही करती थीं। जिस ज़माने में एक रुपये का एक मन गेहूँ बिकता था—और वह भी चाँदी के सौ रुपयों की बराबर तोल वाले सेरों के मन का उस ज़माने में भूसे और खल को कौन पूछता था। गाय भैंस खूब पलती थीं—चौके की जूठन भी बहुत होती थी। मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरी माता रोज़ मोटी मोटी चार रोटी महतरानी को दिया करती थीं, वह रोटियाँ उसकी बँधी हुई थीं—और महीना? रुपयों में नहीं,—पैसों में था, सिर्फ़ एक आना महीना दिया जाता था। मेहतरानी ही को क्यों? कुत्ते को भी तो मोटी मोटी दो रोटियाँ मिला करती थीं—और गाय को तो सबसे पहले-'गौग्रास' के नाम से—रोटी जाती थी।

शाम को घरों में--पूरी या पराठे होते थे, शाक सिर्फ़ एक ही होता था—और वह भी फ़सल का। यह नहीं कि बारहों

महीने आलू ही हो रहे हैं। शाक बड़ा स्वादिष्ट बनाया जाता था। बचे हुए पूरी--पराठे सुबह को रख दिए जाते थे—जिन्हें आम के अचार के साथ घरों के बच्चे और स्त्रियाँ कलेऊ में खाते थे। 'चाय' तो मेरे होश सँभालने के बहुत दिन बाद चली है। उस समय की चाय था ताज़ा ताज़ा 'मठा'। आटा घरों की चक्कियों ही में पिसता था, और पानी घर वाले स्वयं कुँओं से भरते थे। हाथ के पम्प तो मेरा बचपन बीत जाने पर चले हैं। आज जब देखता हूँ कि घरों के नौकर तक-एक दो फ़र्लांग चलकर'सब्ज़ी मंडी' से तरकारियाँ ख़रीदने-बिना साइकिल के नहीं जा सकते, तब मेरी आँखों के आगे वे दिन घूमने लगते हैं। जब हम लोग बड़े सवेरे ही कई मील पैदल चलकर जंगल में निबटते थे और गंगास्नान करते थे—लौटते समय एक शाक लेकर घर में घुसते थे। ख़ाली हाथ घर में लौटकर आना तब 'मनहूसियत' समझी जाती थी। ज्योंही नया शाक घर में आता था - घर की मालिकिनि खुश होजाती थी;—'ओहो! आज तो करेले आए हैं!' उसकी इसी ख़ुशी की आवाज़ पर घर के मालिक—या शाक लाने वाले पारिवारिक व्यक्ति--के मन को इतनी ज्यादा ख़ुशी होती थी--जितनी आज एक सौ रुपये की जिंस घर में भर कर भी नहीं होती है। शुद्ध-सादा-सात्त्विक-प्रेम से बनाया और परोसा हुआ भोजन ही 'स्वास्थ्य' का दाता होता है। और अच्छा स्वास्थ्य ही--मानसिक शक्ति भी बढ़ाता है,-आत्मिक आनन्द भी देता है। अनुभव से यही सिद्ध है

उन दिनों कौड़ियों का खूब चलन था, एक पैसे की चौंसठ कौड़ियाँ आती थीं--हमारी गली के नुक्कड़ पर एक सोंठ वाला बैठा करता था-हम सब बच्चे उसे 'चींटामल' कहा करते थे। उसके पास उबले और छिले हुए तथा बिना कटे हुए-छोटे छोटे आलू भी रहते थे। कौड़ी आलू वह बेचा करता था। यानी एक कौड़ी का एक आलू दिया करता था;—सोंठ में डुबाकर। कोई कोई लड़का चौंसठ आलू तक खा लेता था। सेर सवासेर वज़न तो होना चाहिए उन आलुओं का। फिर आलापाला (कबड्डी का खेल) खेला करते थे सब बच्चे। मैं भी कबड्डी खूब खेला हूँ। कैसे 'मस्ती से लबालब' थे वे दिन।

हम लोग कभी बीमार हुए हों--उन दिनों--यह स्मरण नहीं। यह स्मरण है कि भादों क्वाँर के महीनों में माता जी 'तुलसीदल और काली मिर्च' ज़रूर घोट कर पिला दिया करती थी--ताकि 'जाड़ा बुख़ार' न आए। इसी एक बीमारी के अतिरिक्त हमने दूसरी बीमारी का नाम उन दिनों सुना ही नहीं। और इन-बुख़ार वाली-बीमारियों की चिकित्सा भी बड़ी सस्ती थी। बिहारीपुर की बजरिया में 'हकीम शालग्राम' बैठा करते थे-वह दो पैसे का नुस्खा लिखकर दिया करते थे-जिसमें एक पैसे का कोई अर्क़ होता था-और एक पैसे का शर्बत। उपवास ज़रूर कराते थे। बुख़ार टूटने पर एक दिन केवल मूँग की दाल का पानी मिलता था, जो 'पथ्य' कहलाता था।

आज देखता हूँ- हकीम और डाक्टरों की दूकानें गली गली में हैं; बड़े बाज़ार में एक पूरी लाइन-'मंडी'-इन्हीं मेहबानों की है, उधर घर घर बीमारियों की प्रधानता है। 'डार्यावटीज़', 'ब्लड प्रेशर' जैसी बीमारियों के नाम तो मैंने अपनी जवानी में भी नहीं सुने थे। आज तो 'मन्दाग्नि' 'वायगोला'-'सिरदर्द'-'संग्रहणी'-'बबासीर' आदि सभी राक्षसी और राक्षस मानो मनुष्य के सिर पर चढ़ बैठे हैं—और उनके उतारने के लिए—'आयुर्वैदिक', 'यूनानी', 'ऐलोपैथी' ही नहीं—'बिजली का इलाज', 'पानी का इलाज', 'मट्टी की पट्टी का इलाज', और न जाने क्या क्या 'इलाज' बाज़ार में खरीदा जाता है।

मैं तो इन बीमारियों और इन बीमारियों के कारण बढ़े हुए चिकित्सकों वाले 'वातावरण' के भीतर यही समझता और मानता हूँ—कि भोजन की सादगी और शुद्धता नहीं रही, बेफ़िक्री भी नहीं रही। मनुष्य ने मर्यादा भी छोड़ दी और 'विलासी' बन गया,—न चरित्र-निर्माण रहा न चरित्र-बल—इस प्रकार बहके हुए मानव-समाज पर जो भी 'आफ़त' आए वह थोड़ी है।

नेतागण कहते हैं कि-"रिहाइश का स्टैण्डर्ड'(standard) बढ़ाओ।' स्टैण्डर्ड बढ़ाने का मतलब है—आवश्यकताओं का बढ़ाना—ख़ूब तरह तरह के भोजनों से सजी हुई 'मेज़ों' पर खाना खाओ, ख़ूब अच्छे अच्छे सूटों (पोशाकों) से अपने लिए सुसज्जित करो। ख़ूब विशालकाय भवनों को बनाकर रहो। मैं कहता हूँ—भाई, रिहाइश का स्टैण्डर्ड' बढ़ाकर 'फ्रांस',

'इँग्लैण्ड' आदि पश्चिमीय देश आज तक 'शान्ति' हासिल नहीं कर सके हैं। इस दैवी सम्पत्ति के उन्हें दर्शन तक नहीं प्राप्त हुए हैं। और भारत ने ?—भारत ने तो सदैव इस स्वर्गीय आनन्द को अपनाया है और इस कारण सदा सुखी भी रहा है। वह तो इस 'पथ' पर चला है—

'सत्संगः' परमो लाभः 'संतोषं' परमं धनम्।
'विचारः' परमं ज्ञानं, 'शमश्च' परमं सुखम्॥

'रिहाइश का स्टैण्डर्ड' बढ़ाने की सलाह देने वाले महानुभावों के आगे और भी एक बात रखता हूँ—वह यह कि—आमदनी भी तो गरीब लोगों की बढ़ाइए। उन्हें 'रोजी' भी तो दीजिए। 'रोजी' नहीं मिलने ही के कारण 'रोजा' बढ़ रहा है। इसका उत्तर यदि 'अस्पष्ट' है तो—मेरा निवेदन है कि ऐसी हालत में 'शान्ति' कहीं है—तो सन् १८९७ ईस्वी की रिहायश ही के स्टैण्डर्ड (standard) में है—जिसकी एक हल्की-सी झाँकी मैंने यहां दिखाई है।

अब मैं अपनी ट्रेन को फिर 'मेन लाइन' पर लाता हूँ। आगे 'ब्राँच लाइन' पर तब जाऊँगा—जब कोई 'जङ्कशन स्टेशन' आएगा। हाँ—तो मेरे पिताजी की दृष्टि 'न्यू अल्फ्रेड' पर पहुँच ही गई। यह ख़याल भी पैदा हो ही गया कि 'राधेश्याम' को इस नाटक कम्पनी में भरती करादूँ। किसी न किसी प्रकार वे एक दिन उसी 'राजा चित्रकूट के महल में'

कम्पनी के रिहर्सल के समय—मुझे साथ लेकर पहुँच ही गए। कम्पनी के डायरेक्टर को मेरा गाना सुनवाया, वे ख़ुश हुए—फ़र्माया—"रखलेंगे इसे कम्पनी में"—"रात को थिएटर पर आइए।" ख़ुशी ख़ुशी हम दोनों रात को थिएटर पर गए, 'स्पेशल क्लास' में बैठाले गए, 'चन्द्रावली' नाटक था, मैंने अपनी जिन्दगी में पहली बार 'नाटक' देखा। एक गाना मुझे बहुत ही पसन्द आया—"दही वाली का तौर दिखाना"। उस रात को मैं जब घर पर आया तो सोने के बाद—स्वप्न में भी—नाटक ही देखता रहा। अगले दिन—देर में सोकर उठने के कारण—रिहर्सल में तो हम न जासके—रात को 'थिएटर पर' गए—और 'अलाउद्दीन' खेल देखा। कम्पनी के डायरेक्टर (सोराबजी फ़ामजी ओग्रा) ने पिताजी से कहा—"कम्पनी जब किसी लड़के को भरती करता है—तो उसके पिता से एक 'एग्रीमेंट' पर हस्ताक्षर कराती है-कल रिहर्सल के समय आइए तो हम 'एग्रीमेंट' देदेंगे—कम्पनी ने वह छपवा रक्खा है।" पिताजी वह 'प्रिण्टेड एग्रीमेंट' दूसरे दिन ले आए—वह अँग्रेज़ी में था—पिताजी अँग्रेज़ी भाषा पढ़े नहीं थे—रात को 'अलीबाबा' नाटक देखने जब हम गए—तो पिताजी ने कम्पनी के डायरेक्टर से कहा—"एग्रीमेंट को अच्छी तरह समझ लूँ—तब आपके पास आकर एग्रीमेंट पर हस्ताक्षर करूँगा।"

हमारी 'गली कामारथियान' हमारे पिताजी के नाना 'श्रीप० मूलचन्दजी "कामारथी" के नाम पर है। वे पैदल अपने

दल के साथ-हरिद्वार जाकर 'काँवर' में गंगाजल लाया करते थे और फिर उसी तरह पैदल जाकर 'वैद्यनाथ धाम' में भगवान वैद्यनाथ की मूर्ति पर चढ़ाया करते थे। मार्ग की बस्तियों में उन्हें जो दक्षिणा मिलती थी—वहा उनकी जीविका थी। उनके तीन पुत्र थे और सात पुत्रियाँ। उनकी एक पुत्री 'श्रीमती कोकिला देवी' थीं जो मेरी दादी थीं। सभी दामादों को उन्हों ने एक एक मकान दिया था। मेरे मकान से क़रीब ही उनके एक दूसरे दामाद रहते थे-'श्री प० गंगारामजी महाराज' हमारे मकान की तरह—उन्हें भी एक छप्पर खपड़ैल वाला मकान दिया गया था। गंगारामजी के केवल एक पुत्री थी 'श्रीरुक्मिणी बीबी'—जो 'बाल विधवा' थीं, बड़ी तपस्विनी, बड़ी हरिभक्ता, बड़ी आचरण की ऊँची—'मीराबाई' जैसी। अपने मकान को उन्होंने एक मन्दिर बना लिया था। जो अब तक है। मेरे पिता (अपने मौसेरे भाई) को, और मेरी माता (श्रीमती रामप्यारी देवी) को उन्हीं रुक्मिणी बीबी ने अपने मन्दिर वाले मकान में—पूजा सेवा करने के लिए रख लिया था। अपना निजी छप्पर- खपड़ैल वाला मकान तब—मेरे गाने बजाने का 'रियाज़' करने वाला मकान होगया था। बीबी रुक्मिणी नित्य दिन के दो बजे अपने मन्दिर में—स्त्रियों के समूह में—तुलसी रामायण की कथा कहा करती थीं, मैं उस 'कथा' में हारमोनियम बजाकर चौपाइयाँ गाया करता था।

बीवी रुक्मिणी को जब यह मालूम हुआ कि 'लल्लू' (मेरा बचपन का–प्यार का नाम 'लल्लू' भी था) थिएटर कम्पनी में भरती हो रहा है तो वे मेरे पिता पर गरज उठीं—"यह क्या अनर्थ कर रहे हो ? इसे 'कथा बाँचने वाला' बनाओ;—नाटक का ऐक्टर नहीं।" मेरे पिता उनकी बात काट न सके। बड़ों की बात काटना या जवाब देना उन दिनों बुरा समझा जाता था, आज्ञा ज्यों की त्यों मान लेना ही 'अदब' था। उसी 'अदब' के पालने में वे उनके आगे झुक गये—तपस्विनी की जय हुई। अगले दिन पिताजी—मुझे साथ लेकर चँदौसी (बरेली के समीप एक बड़ी मंडी) चले गए—जहाँ उनके एक मित्र आढ़ती थे। वहाँ एक मास पिताजी ने 'रुक्मिणी मंगल' की कथा कही। कथा के 'गीत' मैं गाता था—और 'अर्थ' पिताजी किया करते थे। बरेली तब लौटे जब 'न्यू अल्फ्रेड' बरेली से चली गई थी।

मेरे शरीर की अवस्था उन दिनों लगभग आठ वर्ष की थी। हिन्दी मतलब लायक़ पढ़ ही चुका था, पढ़ी तो उतनी उर्दू भी थी। पिताजी कभी कभी 'भजन' आदि बनाने की कविता भी किया करते थे,—'लावनी गानेवालों' को शायरी का चस्का होता ही है। मेरी तबियत भी उधर रुजू हुई। सबसे पहला गीत मैंने–'दही वाली का तौर दिखाना' के वज़न पर बनाया—'करो कृपा गुरू महाराजा'।

'न्यू अल्फ्रेड' के गाने बरेली के सभी गायक गाया करते थे। मैंने उनसे सुन सुन कर—वे सब 'तर्जें' याद करलीं। कम्पनी अपने नाटकों के 'गाने' छपवाकर बेचा करती थी, उसकी किताबें भी मैंने इधर उधर से लेकर इकट्ठी कर लीं। 'नाटक के गानों की तर्जों' पर उपदेशप्रद या श्रीराम, श्रीकृष्ण-संबंधी बोल बना बनाकर गाने का मेरा शौक़ अब बढ़ा और चढ़ता ही गया। ऐसे गाने 'श्रीराधेश्याम-विलास' और 'श्रीराधेश्याम कीर्तन' नामवाली मेरी पुस्तकों में पाठक देख और पढ़ सकते हैं। मेरी रामायण (राधेश्याम रामायण) में भी ऐसे गानों की कमी नहीं है। आगे चलकर तो मैं ख़ुद ही 'तर्जें' बनाने लगा—जिसके लिखने की यह जगह नहीं। 'न्यू अल्फ्रेड' के 'भंगड़ ख़ाने' (रंगमञ्च) पर मैंने तीन दिन तक चन्द्रावली'-'अलाउद्दीन'-'अलीबाबा' देखकर ऐसी भाँग पी—जिसका नशा न उतरा, न उतरा; आजतक न उतरा।

अगले साल—आगरे की एक कम्पनी मुंशी नज़ीर के नाटक 'शकुन्तला'आदि—खेलने बरेली आई—मैंने बहुतेरा पिताजी से कहा—पर वे मुझे उसका नाटक दिखाने ले ही न गए। उसके बाद फिर 'न्यू अल्फ्रेड' आई—'दिल फ़रोश' लेकर—पर मैं तो उन दिनों पिताजी के साथ—अनूपशहर और डिबाई (ज़िला बुलन्दशहर) में 'रुक्मिणी-मंगल की कथाओं' में फँसा हुआ था—'चाव' दिल का दिल ही में रह गया।

इधर बरेली के—नाटक प्रेमियों की—खिचड़ी वाली पतीली आखिर उबल ही पड़ी—किन्हीं 'औलादअली' नाम के मुसल्मान भाई ने एक कम्पनी बनाकर खड़ी करदी, उनका 'गुलरूज़रीना' ख़ूब ही चला। तारीफ़ें सुनते सुनते पिताजी भी जब अपने को न रोक सके—तो मेरे आग्रह पर 'चार आने वाले दर्जे' के दो टिकट ख़रीद कर एक रात गए ही। उस कम्पनी के ऐक्टरों ने ऐसे छाती तोड़ गाने गाए—जो उसके बाद—सुनने को बहुत ही कम मिले। गानों ही की प्रधानता थी उस कम्पनी में;—सीन-सीनरी-न्यू अल्फ्रेड जैसी कहाँ ?—न रंगमंच का प्रबन्ध वैसा।—'वन्स मोर' ख़ूब होती थी—एक एक गाना चार चार पाँच पाँच दफ़े चलता था। खेल सुबह के चार बजे के लगभग ख़त्म होता था।

हिन्दुओं की अपेक्षा—मुसल्मान भाई—उन दिनों 'नाटक' के ज़्यादा शौक़ीन थे। कम्पनियों के मालिक और ऐक्टर तथा राइटर भी प्रायः मुसल्मान ही थे। खेल भी ख़ालिस 'उर्दू' में होते थे। 'इश्क़ और हुस्न' ही की भरमार रहती थी—बातचीत में भी क़ाफ़ियों की बहुतायत थी जैसे—'अम्माजान, मेहर्बान, क़द्रदान' आदि आदि। गानों के बोल भी ऐसे ही थे—'जानी, लासानी, नूरानी सुरतियाँ' आदि। लेखकों में मुंशी मुराद, मुंशी अहसन, मुंशी नज़ीर आदि थे। हिन्दुओं का ध्यान नाटक कम्पनियाँ बनाने की अपेक्षा—रासलीला, रामलीला

मण्डलियाँ बनाने और उसकी लीलायें दिखाने की ओर अधिक था। अलबत्ता स्वाँग वालों ने बीच की रास्ता पकड़ी थी, उनकी ऐसी पार्टियाँ भी थीं– जिनमें हिन्दू और मुसल्मान दोनों का समावेश था। असल में तो–हिन्दी उर्दू का और हिन्दू-मुसल्मान का सवाल भी तब देश में—खास तौर पर हमारी बरेली में–नहीं था। एक दूसरे के दुख-सुख में दोनों शरीक होते थे और मदद करते थे। बरेली के मोहर्रम मशहूर थे—हम सब बच्चे आजादी के साथ उन्हें देखने जाया करते थे—कर्बला तक जाया करते थे। दौलतमन्द हिन्दू ताज़ियों के जुलूस में जलेबियाँ बँटवाते थे। शर्वतों की प्याउएँ लगाते थे। इसी तरह हिन्दुओं की होली में मुसल्मान रङ्ग डलवा लेते थे—होली मिलने भी आया करते थे। बड़ा अच्छा व्यवहार था—परस्पर। हमारी 'कामारथी' गली में एक मुसल्मान 'घूरन दर्ज़ी' रहता था—मैं उसे 'मामा' कहता था—उसकी बीबी को—'मुमानी' कहता था। एक रोज़ मेरी पतंग उनके लड़के ने 'तोड़ली'। मैं दौड़ा हुआ 'मुमानी' के पास गया। 'मुमानी' ने अपने लड़के को ऐसे जबर्दस्त अल्फ़ाज़ में डाँट बताई कि उसने मेरे पाँव पकड़ कर मुझसे माफ़ी म गी—और मेरी पतंग–मय डोर के—सहर्ष मुझे देदी।

अजी हिन्दू होकर भी–कुछ तर्जें सीखने के लिए, मोहल्ला जख़ीरा के उस्ताद 'राहत अली' के मकान पर मैं

अक्सर गया हूँ—और उन्हों ने अपने पुत्र ही की भाँति मुझसे स्नेह का व्यवहार किया है तथा हारमोनियम सिखाया है। यों तो मैं अधिकतर श्री प० बहादुरलाल (ब्रह्मपुरी बरेली निवासी) से हारमोनियम सीखने जाता रहा हूँ। पिताजी ऐसे प्रत्येक अवसर पर मेरे साथ ही रहे हैं। वह सिंगल रीड का ३५) वाला छोटा सा 'मोहन फ्लूट' हारमोनियम वे ही अपनी बगल में दबाकर लेजाते और लाते थे। कितनी लगन और धुन थी इस बात की मेरे पिता में—कि मेरा 'राधेश्याम' हारमोनियम बजाकर, गाकर 'रुक्मिणी-मंगल' की कथायें शानदार कहे। अपने पूरे २४ घण्टे—उन्होंने मेरे ही लिए दे रक्खे थे। और उनका यह क्रम बरसों तक चला है।—आज मेरा सिर ही नहीं—मन और-आत्मा तक उन्हें शत शत प्रणाम कर रहा है। पाठक, क्षमा करें—प्रसंग वश ही मुझे फिर 'शाखा' में आना पड़ा है।

अपनी जवानी में मैंने जब 'हिन्दू-मुसलमान' की लड़ाई देखी—तो बहुत ही दुःख हुआ। खयाल आया कि यह सब पालिटिक्स (Politics) का परिणाम है। डायन राजनीति ने हिन्दू-मुसलमान को लड़ा दिया। इण्डिया को दो भागों में विभक्त कर दिया। न जाने—चक्कर खाकर—कब वह समय आएगा—जब एक दूसरे को—अपना समझेगा—मानव—मानव को मानेगा।

—:०:—

मेरा-नाटक-काल

किशोरावस्था

इस अध्याय में अपनी १२-१३ वर्ष की अवस्था से १९-२० वर्ष की अवस्था तक की याददाश्तें लिखता हूँ; सन् १९०२-३ से लेकर सन् १९०९-१० तक की।

सीधी सादी भाषा में कविता मैं करने लगा था—कथा भी कहने लगा था—सुरीली आवाज़, शरीर का सुन्दर दिखाव, ताक़त और उमंग से भरी हुई अवस्था, प्रत्येक बात को सीखने-अपने में भर लेने—का चाव,—पिताजी की तपस्या मानो सफल कर रहा था।

पिताजी अब ऐसे प्रोग्राम बनाते थे कि-किसी एक शहर में किराये का मकान लेकर रहें—और कई कथायें वहाँ कहें। इसी क्रमानुसार मुझे आगरा एक वर्ष से भी अधिक रहना पड़ा था। १३वें वर्ष की अवस्था से लेकर शायद १४॥ वर्ष की अवस्था तक। मेरा विवाह भी तो वहीं—अछनेरा के पास—'राइत्रा' ग्राम में हुआ, तब मैं १३ वर्ष का था—और मेरी स्त्री ११ वर्ष

की। मैं यह भी नहीं जानता था कि 'विवाह' क्यों होता है? कुछ ऐसा समझा कि मेरी 'माताजी' दोनों समय भोजन बनाती हैं—उनकी मदद को एक 'बहू' चाहिए।

मेरे साले (स्वर्गीय प० रामशरण शर्मा) यजमान-वृत्ति किया करते थे। ज़िला मुरादाबाद, बरेली और ज़िला बरेली के कई क़स्बों तक में उनकी यजमानी थी। गुरूजी के रूप में—वर्ष में एक बार वे यजमानों के यहाँ अवश्य जाया करते थे—और साल भर का धरा हुआ दान-पुण्य का सामान तथा दक्षिणा लाया करते थे। पिताजी से उन्होंने जब सम्बन्ध जोड़ लिया, तो अपने यजमानों के यहाँ आसानी से वे 'कथा' भी पक्की कर देते थे—इस तरह यह जुड़ा हुआ सम्बन्ध उस समय सुदृढ़ हो गया—जिस समय—वहाँ मेरा विवाह हुआ। मेरे श्वसुर और सास तब संसार में नहीं थे।

हमारे पीछे बरेली में फिर 'न्यू अल्फ्रेड' आई और अपना 'भूलभुलयाँ' खेल लाई। मुझे हसरत सी रह गई कि मैं उसे नहीं देख पाया, गाने उसके भी ख़ूब चले—पर ड्रामा था 'दिलफ़रोश'-के टाइप ही का, 'मुंशी अहसन'—का।

बरेली में बाबू रामस्वरूप खत्री नाम के एक वकील थे, मेरे पिता के मित्र थे। किसी मुक़दमे में परमादरणीय श्रीमोतीलालजी नेहरू, बरेली आए थे—उन्हों ने श्रीरामस्वरूप वकील से कहा कि—"एक अच्छे कण्ठवाले—तुलसी रामायण की कथा कहने वाले—की उन्हें आवश्यकता है। उनकी धर्मपत्नी (श्रीमती

स्वरूपरानी नेहरू) बीमार हैं, डाक्टर ने उनके मनोरंजन के लिए यह बतलाया है।" श्री रामस्वरूप जी ने हमारी सिफ़ारिश करदी, हम (पिता पुत्र) आनन्दभवन, इलाहाबाद गए और एक मास से भी कुछ अधिक दिनों तक वहाँ रहे। महामान्य श्रीजवाहरलालजी नेहरू भी तब वहीं थे। वे अवस्था में एक वर्ष मुझसे बड़े हैं। उनसे मुझे एक 'तुलसी रामायण' श्री रामेश्वर भट्ट की टीका की 'निर्णयसागरी' मिली थी, जो अबतक मैंने आदर के साथ रख छोड़ी है। विश्वविख्यात श्रीविजयलक्ष्मी पण्डित तब बालिका थीं, 'नन्ही बीबी' उन्हें कहते थे; उन्हें मेरा एक गाना बहुत पसन्द था—"अपार तेरी माया, माया है तेरी अपार" (नाटक की तर्ज़ पर बना हुआ—'निसार तेरे नख़रे, नाज़ो अदा पर निसार')

श्रीनन्ही बीबी की फ़र्माइश पर—कथा के बाद—यह गाना मुझे रोज़ गाना पड़ता था। श्रीमोतीलालजी नेहरू नाटक देखने के भी बड़े प्रेमी थे। 'महबूब' की नाटक कम्पनी 'कारोनेशन' तब इलाहाबाद आगई थी। अपने परिवार के अधिकाँश व्यक्तियों के साथ वे जब नाटक देखने जाते थे तो हमें (पिता पुत्र को) भी ले जाते थे। 'महबूब' स्वयं नाचता बहुत अच्छा था। नाटक उसके भी 'औलाद अली' की 'जुबली' कम्पनी की भाँति ही होते थे--पर पोशाक और सीनरी 'जुबली कम्पनी' से कहीं अच्छी थी। स्टेज की व्यवस्था भी कुछ ठीक थी। उनका 'कनक तारा' नाटक मुझे अधिक पसन्द आया।

यह सब ज़िक्र मैं इसलिए कर रहा हूँ कि जिस 'नाटक-संसार' में मुझे जाना था—वह 'संसार' इस तरह 'बरियायी' मुझे अपनी ओर खींच रहा था। इधर पिताजी ने मुझे सम्पूर्ण 'तुलसी—रामायण' टीका सहित पढ़ा दी—तो 'रामचरित्र—सम्बन्धी' और कई ग्रन्थ पढ़ने का मेरा चाव बढ़ा। 'रुक्मिणी-मंगल' की कथायें कहने के कारण 'श्रीकृष्णचरित्र'—सम्बन्धी साहित्य के अध्ययन की इच्छा भी बलवती हुई। आख़िर बम्बई के 'वेङ्कटेश्वर प्रेस' से मैंने ऐसी कुछ किताबें मँगाईं;—और अपनी अल्मारी सजाई। किताबों के साथ साथ उनके यहाँ का 'सूचीपत्र' भी आया, उसमें 'श्रीवेङ्कटेश्वर समाचार' (साप्ताहिक) का विज्ञापन भी था; मैं उस पत्र का 'ग्राहक' भी बन गया। बम्बई के साप्ताहिक पत्र का ग्राहक बनने के बाद—कलकत्ते के 'हिन्दी बङ्गवासी' (साप्ताहिक) का भी ग्राहक बना।

अख़बार पढ़ने का शौक़ ज्यों ही बढ़ा—'उर्दू' का 'रोहिलखंड गज़ट' जो बरेली ही से निकलता था—उसे भी ख़रीदकर पढ़ने लगा। धीरे धीरे प्राचीन और सामयिक—हिन्दी-उर्दू का साहित्य पढ़ने का शौक़ ख़ूब बढ़ चला। तब तो कलकत्ता, पटना, काशी, लखनऊ, लाहौर की सैकड़ों पुस्तकें ख़रीदकर अपनी कई अल्मारियाँ भर लीं। ख़ूब पढ़ता था, दूसरों को भी पढ़ने को देता था। लेखकों में इनका मुझपर ज्यादा प्रभाव था—श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीबालमुकुन्द गुप्त, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, बाबू

देवकीनन्दन खत्री, श्रीगोपालराम गहमरी, श्रीमाधवराव सप्रे, अकबर इलाहाबादी, चकबस्त लखनवी, उफ़क़ लखनवी, शौक़ अलीगढ़ी, शिवव्रतलाल वर्मन, लाहौरी, ख़्वाजा हसननिज़ामी, देहलवी, और श्रीलज्जाराम मेहता बूँदी निवासी आदि।

हिन्दी-उर्दू के मासिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्र तो आगे फिर मेरे नाम पचास से भी अधिक आने लगे थे। बरेली शहर भर की कहना तो शायद अतिशयोक्ति होगी--पर- यह निश्चय है कि बिहारीपुर में मेरी 'डाक' सब से ज़्यादा आया करती थी। मुझे इन पत्रों से अधिक प्रेम था --मासिकों में सरस्वती, कमला, देवनागर, जासूस, ज़माना। साप्ताहिकों में—हिन्दी बंगवासी, आनन्द हिन्दी केसरी, श्री वेंक्टेश्वर समाचार, अभ्युदय और तफ़रीह। दैनिकों में—भारत-मित्र (कलकत्ता) और आफ़ताब (देहली)।

कथाओं के सिलसिले में मुरादाबाद और कानपुर भी मैं साल डेढ़ साल तक रहा हूँ। लखनऊ में तो शायद दो साल रहा हूँ।

लखनऊ सिटी स्टेशन के तत्कालीन मालबाबू चौबे सीताराम मेरी कथा के बड़े प्रेमी थे, उनके मालगोदाम में एक नाटक कम्पनी के 'पास' आगए, मैं 'पास' लेकर उस कम्पनी में नाटक देखने गया, यह कम्पनी थी—'मेहरजी' की 'रिपन' कम्पनी। इसका स्टेज और नाटक मुझे ज़्यादा भाया। मालबाबू ने 'मेहरजी'

से मेरा 'परिचय' भी अच्छा करा दिया - वे तो यह भी चाहते थे—मैं इस कम्पनी में रह जाऊं। 'पार्ट' भी अच्छा करने लगूँगा और 'नाटक लेखक' भी बन जाऊँगा। पर मैं तो अपने पिताजी के सुदृढ़ सिद्धान्त में बँधा हुआ था,—'कथा ही कहनी है'। यहाँ तक कि मैं तब 'कथा' और 'वाचक' दोनों वाक्य मिलाकर-अपने नाम के आगे 'कथावाचक' लिखने लगा था। फिर भी 'मेहरजी' शिष्ट और सभ्य व्यक्ति थे, उनसे मेरी ख़ासी मुलाक़ात हो गई। उन्हीं से मालूम हुआ कि बम्बई में पारसियों की कई नाटक कम्पनियाँ हैं। पारसी भाई इस लाइन में काफ़ी तरक़्क़ी कर रहे हैं। 'वालीवाला विक्टोरिया थिएट्रिकल कम्पनी' 'सत्यवादी हरिश्चन्द्र' के बाद—'रामायण' नाटक खेलने को है। इन नाटकों के लेखक काशी के 'मुंशी विनायक-प्रसाद तालिब' हैं—जिनकी भाषा हिन्दी-उर्दू मिश्रित नाटकीय है।"

मुझे यह समाचार सुनकर हर्ष हुआ। यह भी सुना कि 'पारसी थिएट्रिकल कम्पनी' नाम की एक और कम्पनी का भी बम्बई में बड़ा नाम है। बम्बई में पहले 'अल्फ्रेड' नाम की एक ही कम्पनी थी—फिर साझीदारों के कारण दो कम्पनी बनगईं—एक का नाम है—'पारसी अल्फ्रेड' दूसरी का 'न्यू अल्फ्रेड'। 'पारसी अल्फ्रेड' को 'कावसजी खटाऊ' चला रहे हैं—और 'न्यू अल्फ्रेड'के मालिक हैं 'माणिकजी जीवन जी मास्टर'।

'मेहरजी' अपनी कम्पनी में प्रायः अपने ही नाटक खेला करते थे, 'कामिक पार्ट स्वयं ही किया करते थे—उनकी कम्पनी ने

एक दिन 'खून का खून' (हेमलेट) नाटक भी खेला—जो मैंने देखा—तो मुझे बहुत ही पसन्द आया।

इनके नाटक देख देखकर—बार बार मुझे यह खयाल भी आया कि—यह नाटक वाले भारतेन्दु के 'भारत दुर्दशा' और 'नील देवी' जैसे नाटक क्यों नहीं खेलते ? फिर यह भी खयाल आया कि वे नाटक शायद 'तीन अङ्कों' के नहीं हैं, छोटे हैं, इसलिए नहीं खेले जाते। वास्तव में तो— आगे चलकर मैंने समझा कि शुद्ध हिन्दी के नाटक खेलने का रिवाज ही—उस समय की पेशेवर नाटक कम्पनियों में नहीं था। ऐसे (हिन्दी के) नाटक तो 'क्लबों' ही की चीज़ रहे।

नाटक का प्रेम मुझ में बढ़ तो रहा ही था—एक नाटक लिखना शुरू भी कर ही दिया। श्रीलज्जाराम मेहता के उपन्यास 'आदर्श दम्पति' के आधार पर। पर—स्टेज का ज्ञान नहीं था, सीनों की तर्तीब जानता नहीं था—लिखकर भी न लिख सका।

'जयपुर' में जब मैं कथाएँ कह रहा था—तो बरेली में फिर 'न्यू अल्फ्रेड' आई—और इस बार उसने अपना नया नाटक 'खूबसूरत बला' जनता के सामने पेश किया। कम्पनी के इस नाटक को शत प्रतिशत व्यक्तियों ने पसन्द किया। बरेली आने पर मुझे बहुत ही अफ्सोस हुआ कि मैं उन दिनों बरेली क्यों नहीं था !—होता तो ज़रूर देखता।

'नाटक कम्पनियों' की अब बाढ़ सी आने लगी थी; उस बाढ़ में एक ख़ास बात थी—सब कम्पनियाँ अपना अपना नाम 'अँग्रेज़ी' का रखती थीं—और कहीं की भी कम्पनी क्यों न हो—नाम के अन्त में 'आफ़ बम्बई' (बम्बई की) ज़रूर लगाती थीं। 'बम्बई' के नाम से उन कम्पनियों के मालिक यह समझते थे कि 'हमारी शान बढ़ जाती है'। यह तो सही ही है कि नाटक के साथ बम्बई का नाम देश भर में फैलाने वाली कम्पनियों में तब 'न्यू अल्फ्रेड' और 'पारसी अल्फ्रेड' प्रमुख थीं।

बरसाती बाढ़ की तरह बढ़ने वाली—शहर शहर की नाटक कम्पनियाँ—बम्बई ही की नाटक कम्पनियों के नाटक—'चोरी' से खेला करती थीं। एक्टर एक-दो अच्छे होते थे—बस। कुछ कमा खा लेती थीं। ऐसी किसी कम्पनी 'एम्पायर' या 'एडवर्ड' में—कम्पनी का नाम तो अब ठीक याद नहीं आता—बरेली ही में—मैंने 'ख़ूबसूरत बला' देखा। यही पहला नाटक था—जिसे देखकर मैं उसमें बह सा गया। फिर एक दिन उसी कम्पनी में जाकर यह नाटक देखा। दो बार देखकर भी जी नहीं भरा। ट्रेजडी और कामडी—तस्वीर के दोनों रुख़ सुन्दर, जमे हुए और जचे हुए मैंने इस नाटक में पाए। भाषा भी उनके अनुकूल पाई। ट्रेजडी में ट्रेजडी की,—कामडी में कामडी की। मालूम हुआ कि इसके लेखक हैं—'श्री आग़ा हश्र कश्मीरी' और डायरेक्टर हैं 'सोराबजी ओग्रा'। इन दोनों ही व्यक्तियों पर

मुझे 'श्रद्धा'सी होगई। यहाँ तक उमंग उठी कि बम्बई जाकर ही 'न्यू अल्फ्रेड' में उनका यह नाटक देखूँ। 'ख़ैरसल्ला' का पार्ट 'सोराबजी ओग्रा' का देश भर में छा गया था—और 'आग़ा हश्र' नाटक संसार के सर्वप्रिय नाटककार होगए थे। देश की नाटक कम्पनियाँ ही नहीं, सम्पूर्ण क्लब भी उन दिनों 'ख़ूबसूरत बला' ही खेलने लगे।

वास्तव में तो 'ख़ूबसरत बला' नाटक देखकर ही मुझे अब उत्कट उत्कण्ठा होगई कि इस दरिया में कूदूँगा। 'हिन्द-प्रेम' तो मेरा बढ़ ही रहा था—'हिन्दी' ही के नाटक का 'तोंबा' छाती के नीचे रखकर—इस दरिया में 'तैरने' का मंसूबा बाँध रहा था। निश्चय ही संस्कार यह आग पैदा कर रहा था—या भावी बोल रही थी।

इसके बाद तो मैंने देखा—नाटक-लेखकों के नाम भी बढ़ने लगे हैं। 'बेकल'-'अफ़सूँ'-'ज़ेबा'-'बेताब'-'शैदा'-'हसरत'-'जौहर' आदि आदि उपनाम (तख़ल्लुस) सभी के 'उर्दू' के थे;—मुझे रह रह कर यह कुढ़न होती थी कि हिन्दी के 'उपनाम' (तख़ल्लुस) वाले नाटक-लेखक क्यों नहीं सामने आते? कितने ही नाटक-लेखक तब इसी में ख़ुश थे कि उनके नाटक—रंगमंच पर न खेले जाकर—प्रेस में छपकर-बुकसेलरों की दूकानों पर बिकने को पहुँच जायें। अजी 'उफ़क़ साहब' तक ने 'रामलीला' नाटक लिख डाला, छपा भी। यह ज़रूर है कि इसे पंजाब के रामलीला प्रेमियों (क्लबों) ने—खेला भी। 'उफ़क़ साहब'

(लखनऊ के मुंशी द्वारकाप्रसाद) माने हुए लेखक और कवि तो थे ही—'रामलीला नाटक' में कहीं कहीं उन्होंने अपनी लेखनी से - शायरी की चमक ख़ूब चमकाई है—जैसे राम-जन्म के अवसर पर :—

दुनिया में सिरी राम का औतार हुआ है।
अबतक जो निराकार था साकार हुआ है॥
ज़ालिम हों ख़बरदार, सितमगर हों ख़बरदार।
दुनिया का ख़बरगीर—खबरदार हुआ है॥

अलीगढ़ के मुंशी बनवारीलाल 'शोला' की 'जनकनन्दिनी' भी मैंने उन्हीं दिनों पढ़ी थी। उसकी कविता ने भी मेरे हृदय में घर कर लिया। मैं कथायें तो कहता ही था—अपनी 'रामायण' में उनके भाव—बढ़ाकर—भाषण द्वारा सजाकर बड़ी 'वाहवाही' हासिल करने लगा था।

मथुरा में एक बाबू जगन्नाथ सरीन वकील थे। संगीत के बहुत ही ज़्यादा प्रेमी। बम्बई की पारसी कम्पनी ने जब अपना 'ज़हरी साँप' बम्बई में खेला—तो उसके गानों की धूम बम्बई ही में नहीं—उत्तर भारत में भी मचगई। सरीन साहब के यहाँ जम्मू का एक गवैया 'नरसिंहदास' गाना सुनाने के लिए मासिक वेतन पर रहता था। मैं जब वहाँ कथा कहने गया—तो उस नरसिंहदास के मुँह से उक्त नाटक का एक गाना—'आली, सुरंग हज़ारा पन्ना'—जब सुना तो उसकी तर्ज़

मुझे इतनी भाई-कि अपनी रामायण के 'जन्म'--में उसी तर्ज़ पर लिखा-"राजा के घर आईं नारियाँ" ।

'तुलसी जस होतव्यता—तैसेहि मिलै सहाय—
आप न आवे ताहि पै—ताहि, तहाँ लैजाय' ।

सन् १९१० या ११ की बात है। पजाब की एक नाटक कम्पनी बरेली आई—'न्यू अल्बर्ट'। इस कम्पनी के मालिक थे—बाबू 'नानकचन्द' खत्री। उनका नाम तो 'दो-दो नकारों' से शुरू होता था—पर थे दिल के बड़े उदार। 'न्यू ल्वट' कम्पनी को श्रेष्ठ कम्पनी बनाने की उन्हें बड़ी धुन थी; और उसके लिए ख़ूब ख़र्च करते थे। अचानक मेरे छप्पर खपड़ैल वाले मकान में' वे ही नानकचन्द एक दिन अपने १-२ बड़े एक्टरों के साथ मुझसे मिलने आगए। ठहरी इनकी कम्पनी भी उसी 'राजा चित्रकूट के महल' में थी—जिसका ज़िक्र मैंने इस पुस्तक के पहले अध्याय में किया है। मुझे अपने 'छप्पर खपड़ैल' के मकान में इनसे मिलने में कुछ 'शर्म' सी आई। यह ज़रूर था कि कथाओं द्वारा रुपया हमारे पास आने लगा था—पर वह रुपया पिताजी बीबी रुक्मणी के स्थान में—जिसे हम 'श्रीजी का मन्दिर' कहने लगे थे—लगा रहे थे। खपड़ैलें छप्पर तो वहाँ भी थे—पर अब कोठे, तिदरी, बनने लगे थे।

श्रीनानकचन्द जी (पंजाबी) का अचानक—बिना अपाइण्टमेंट (appointment) मेरे यहाँ चले आना—मुझे

कुछ 'विचित्र' सा मालूम हुआ; पर आगे मैंने समझ लिया कि पंजाबी भाइयों के स्वभाव ही में ऐसा है। वे मिलने में निर्भीक, निःसङ्कोच होते हैं। अपनाइत अधिक प्रकट करते हैं।

श्री नानकचन्द ने मुझसे—अपना परिचय देने के बाद कहा—"हमारी कम्पनी हरिद्वार से आरही है—वहाँ हमने अपना 'रामायण नाटक जयपुर-महाराज सवाई माधोसिंह जी को दिखाया था—उन्हों ने नाटक में कुछ त्रुटियाँ बताईं। कम्पनी जब हरिद्वार से बरेली चलने लगी तो महाराज साहब के प्राइवेट सेक्रेटरी 'अविनाश बाबू' ने आपका नाम बतलाया और सलाह दी कि आपसे हम अपना 'रामायण नाटक' का संशोधन करायें। मुझे श्रीनानकचन्द की बात सही जची—क्योंकि श्री माधोसिंहजी महाराज को मैं अपनी 'कथा' सुना चुका था, और अविनाश बाबू से भी मेरी मुलाक़ात हो चुकी थी।

"अन्धे को क्या चाहिये ? दो आँखें"—मैंने सहर्ष उनका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। उसकी उजरत के सम्बन्ध में न उन्होंने कुछ कहा–न मैंने ज़िक्र किया। कई दिन बाद मुझे मालूम हुआ कि तब नाटक लेखकों की तनख़्वाह १००) मासिक से भी कम होती थी—सम्भव है बम्बई में किसी को १००) मासिक मिलता हो। मैंने भी सोचा कि 'संशोधन' का पुरस्कार ज़्यादा से ज़्यादा १००) ही ले सकता हूँ—न लूँ तो अच्छा है—फिर इसमें मेरी शान है, और कम्पनी से सम्बन्ध भी अच्छा जुड़ता

है, 'हिन्दी-नाटक' लिखकर और इस कम्पनी में खिलवाकर अपना 'अर्मान' आसानी से पूरा कर सकता हूँ। पिताजी तब बीमार थे—'कथा' के लिए बरेली से बाहर जाने का कोई प्रोग्राम नहीं था; मैं उस कम्पनी के 'रामायण नाटक' के संशोधन में डट गया। उनकी तालीम थिएटर पर ही सुबह के १० बजे चला करती थी—ठहरने के मकान (चित्रकूट वाले) पर नहीं। मैं नित्य तालीम देखने भी जाता था—और रात को थिएटर देखने भी। इस प्रकार अपना 'ज्ञान' बढ़ा रहा था। कम्पनी के डायरेक्टर—नाम के लिए तो 'रहीमबख्श', कामिक पाट करने वाले थे—पर वास्तव में डाइरेक्शन रहता था 'अब्दुलरहमान काबुली' (ट्रेजिक पार्ट करनेवाले) का। इधर उधर के (चोरी के !) नाटक यहाँ भी खिलते थे। पर अच्छे एक्टर होने के कारण खेल जमते ख़ूब थे। रहमतअली और निसार जैसे गायक एक्टरों की धूम मची हुई थी।

मेरे स्वभाव में—'डिक्टेटरशिप' (Dictatorship) के साथ काम करने का तरीक़ा रहा है—और जब जब भी काम में जुटता हूँ—तो न जाने कहाँ से शक्ति आती रहती है—कि काम को पूरा करके ही छोड़ता हूँ। इसी स्वभाव ने एक महीने ही के अन्दर—उस 'रामायण नाटक' का संशोधन ही नहीं कराया—उसके गाने भी ठीक कराए—और स्टेज पर खड़े होकर डाइरेक्शन भी मुझसे कराया। कम्पनी के मुसल्मान डायरेक्टर

साहब मेरे डाइरेक्शन में कोई 'त्रुटि' भी होती थी तो 'दखल' नहीं देते थे—सोचते थे यह धार्मिक नाटक है—पण्डितजी जो कुछ कर रहे हैं—ठीकही कर रहे हैं। हारमोनियम मास्टर 'मियाँ नवाब' भी मेरी ही बताई तर्जों और मुर्कियों आदि के अनुसार गायकों को गाने ठीक कराते थे। 'तबला मास्टर' फर्स्ट क्लास था--'.गुलाम हुसैन'। सब उसे 'उस्ताद' कहा करते थे। वह हर एक गाने को—जब एक्टर गाकर स्टेज के भीतर जाने लगता था--अपने तबले के बोलों और टुकड़ों से ऐसा उभारता था कि कभी कभी तो उसी के कारण 'वन्समोर' हो जाया करती थी।

उस कम्पनी का पुराना रामायण नाटक क्या था' चार यारी' सी थी—कुछ तालिबसाहब का, कुछ उफ़क़साहब का, कहीं कहीं रामेश्वर भट्ट की सटीक रामायण के ज्यों के त्यों वाक्य,—किसी किसी जगह—तुलसीदास जी की केवल चौपाइयाँ ही। इसी के संशोधन में जब मैंने अपने लिए भी डाला - तब तो यह 'पँच मेल मिठाई' सी होगई। संशोधन के कारण इतना अवश्य हुआ कि 'कथानक'—'चरित्र चित्रण'—'सीनों की तरतीब' में—कहीं भी त्रुटि नहीं थी। गाने स्थान स्थान पर प्रभावशाली थे।

आख़िर 'रामायण नाटक' खेले जाने का दिन आगया। उस दिन तो मैं अपने पिताजी को भी लेगया, वे रोगमुक्त हो चुके थे—पिता जी ही को क्यों—'बीबी रुक्मिणी' को छोड़

कर—सभी रिश्तेदार गए। मेरे लिए 'फ्री पास' देने में श्री नानकचन्द ने प्रति दिन उदारता दिखाई है, महीने भर में—सौ से भी ज़्यादा मेरे परिचितों ने 'पास द्वारा' उनके नाटक देखे थे। नारद का पार्ट मास्टर रहमत अली का था—यह पार्ट मैंने ही बढ़ाया था। उसे एक गाना दिया था:—

'अवध में है अनन्द छाया, पुत्र कौशल्या ने जाया'

पंजाबी गायक के मुख से 'पुत्र' का उच्चारण 'पुतर' ही होता था—तब मैंने उसकी जगह 'लाल' कर दिया—"लाल कौशल्या ने जाया।"

यह गाना तब बरेली के घर-घर में पहुँच गया; ३-४ से कम 'वन्स मोर' नहीं होती थीं।

मास्टर निसार (सीता) को दो जनरल गाने दिए थे, पुष्प-वाटिका में 'जय शिव ओंकारा' की आरती और अशोक-वाटिका में 'अरे रावण तू धमकी दिखाता किसे—(आदि), यह गाने भी ख़ूब चले। निसार की आवाज़, गले की मुर्कियाँ और शुद्ध उच्चारण निःसन्देह ख़ूब आकर्षक था।

मास्टर प्रभु (राम) को लक्ष्मण मूर्च्छा के समय—तुलसीदासजी की चौपाइयाँ—"जो जनतेऊ बन बन्धु बिछोहू" आदि दी था— उसने भी अपनी चौपाई के गाने से जनता को रुला दिया।

आख़िर यह गाने सभी की ज़ुबानों पर चढ़ गए। नाटक की धूम बरेली भर में मच गई। मेरी शोहरत होगई। इस प्रकार रामजी का कृपा प्रसाद—मेरे कथा काल ही में नहीं--मेरे नाटक काल के प्रारम्भ में भी है।

नानक चन्दजी की एक उदारता का वर्णन करदूँ—उनकी कम्पनी में पेरिस के रीडों का एक फ़ोल्डिग हारमोनियम ३८०) रुपया का नया आया था, मैंने—कहीं 'नवाब' (हारमोनियम मास्टर) से कह दिया—'बड़ा अच्छा हारमोनियम' है। अरे साहब, उसी शाम को वह हारमोनियम मेरे घर आगया—साथ में नानकचन्द जी की एक चिट्ठी भी थी—'यह मोहब्बत का नज़राना है, वापिस न करें'।

नानकचन्द ही की फ़र्माइश पर मैंने 'वभ्रुवाहन' नाटक लिखना शुरू किया—कितने ही महीनों उसपर मग़ज़ मारकर भी—मुझे उसका 'कथानक' ज्यादा 'जनपसन्द' नहीं जँचा। इतने में श्री मैथिलीशरणजी गुप्त का 'जयद्रथ वध' मैंने पढ़ा। बार बार सोचता था कि यह कथानक नाटक के लिए उत्तम रहेगा, इतने में कई प्रेसों के नाटक भी सामने से गुज़रे—उन्हीं में मुरादाबाद के लाला शालग्राम का 'अभिमन्यु' भी। स्टेज की दृष्टि से यह कोई भी 'नाटक' नहीं कहे जा सकते थे, पर 'कथानक' तो था ही। आख़िर, इंडियन प्रेस की द्विवेदीजी की—अनुवादित महाभारत—मँगाई। 'कथानक को अपने ख़याल के मुताबिक़ ढाला और 'वीर अभिमन्यु' लिखना शुरू कर दिया।

मेरा-नाटक-काल

तरुणावस्था

(पूर्वार्द्ध)

यह अध्याय बड़ा है—इसी कारण दो भागों में इसे लिख रहा हूँ—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में। पूर्वार्द्ध में मेरी २१ वर्ष से ४१ वर्ष तक की अवस्था की घटनायें हैं—सन्—१९११ से १९३१ तक की।

'न्यू अल्बर्ट' की 'रामायण' से मेरा नाम तो अब—नाटक प्रेमीगण जान ही गए थे—कुछ एक्टर्स भी जान गए थे। प्रायः ऐसे लोगों से मेरी बातचीत भी हो जाती थी। मैं भी अब शहर शहर में कथायें बाँचता हुआ—फुर्सत में 'वीर अभिमन्यु' के पहले अङ्क के सीनों को बार बार लिख लिख कर 'सुन्दर' बना रहा था। अब मैं अकेला ही कथायें बाँचने जाता था—एक-दो नौकरों को साथ लेकर। पिता जी घर पर ही रहते थे। घर जब बढ़ने लगा—तो उसके प्रवन्ध भी बढ़ने लगे।

सन् १९१२ में—पहली बार मैं बम्बई गया। बम्बई देखने का चाव भी बहुत था। वह 'जादूगर की नगरी' नए यात्री को निश्चय ही लुभाती थी। वहाँ मैंनें 'मराठी' और 'गुजराती' कम्पनियों के नाटक देखे। 'पारसी' कम्पनी का भी 'ज़हरी साँप' देखा। मालूम हुआ कि उस कम्पनी के डायरेक्टर अमृतलाल ने अपने मुंशी श्रीनारायणप्रसाद 'बेताब' से बड़े परिश्रम और लौट पलट के बाद इसे लिखाया था। बम्बई में इस नाटक की 'धूम' थी। ठीक समय पर टिकिट नहीं मिलते थे। 'अमृतलाल' निश्चय ही अच्छे ऐक्टर और डायरेक्टर थे, गानों के बोल भी बनाते थे—उसी के साथ साथ तर्जें भी। यह 'नायक' जाति के थे। अहमदाबाद के आसपास 'नायक जाति' की बहुतायत है। कितने ही गाँव इनसे भरे हुए हैं। इनकी जाति में गाने, नाचने, नाटकों में पार्ट करने ही की जीविका—प्रधान जीविका रही है, छोटी अवस्था ही में अपने बच्चों को किसी भी गुजराती पारसी कम्पनी में—ऐग्रीमेंट भर कर—बाप या उनके संरक्षक दाखिल करा देते हैं। वहाँ बढ़ते बढ़ते वे ही बच्चे 'अमृतलाल' 'भोगीलाल'—'मोहन'—'पुरुषोत्तम'—'नर्मदाशङ्कर' बन जाते हैं। इस जाति के 'युवक' 'स्त्री' का पार्ट सदा अच्छा करते रहे हैं—यही कारण था कि कितनी ही कम्पनियों में 'स्त्रियाँ' नौकर ही नहीं रक्खी जाती थीं—ख़ास तौर पर गुजराती कम्पनियों में। पारसी कम्पनियों में तो 'न्यू अल्फ़ेड' ही एक ऐसी थी, जिस में यह नियम था और जिसका यह नियम (स्त्रियाँ नौकर

न रक्खी जायँ) सन् १९३२ ईस्वी तक क़ायम रहा है। 'मराठी' कम्पनियों में 'नायक जाति के नट' प्रायः 'नहीं' के समान मैंने देखे। मराठे ही उसमें अभिनय करते थे। अपने समाज की किसी भी बुराई को लेकर उनके लेखक (जो प्रायः विद्वान् थे) नाटक लिखते थे—और मराठे नट भी उस नाटक में सराबोर होकर अपना अपना अभिनय करते थे। निश्चय ही मराठी ऐक्टरों में 'एक कला' थी—पर -वह एक ही ढर्रे की;—ऐसा ही मुझे लगा। गाने इनके कम ज़रूर रहते थे—पर रहते थे प्रायः क्लासिकल (classical)।

'धार्मिक नाटकों' को तो 'काठियावाड़ी' (ब्राह्मण) ही बम्बई के स्टेज पर प्रारम्भ में लाए। भाषा उनकी भी 'गुजराती' थी। स्त्रियाँ उनकी कम्पनियों में भी नहीं रहती थीं। लेखक भावुक थे, पुराणों से गाथा लेकर, स्टेज की दृष्टि से उसे उचित अदल बदल कर खिलवाते थे। सीनरी अच्छी पेश करते थे। उनके नाटकों का मुझ पर ख़ास प्रभाव पड़ा। वे उदार भी थे, अपने पूरे नाटक—गुजराती ही में—छपवा कर विक्रयार्थ प्रस्तुत करते थे। ऐसे कई नाटक ख़रीद कर मैं अपने साथ लाया। उनके पढ़ने के चाव ने मुझे 'गुजराती' समझने के लिए भी बाध्य किया।

'नरसी मेहता' के पश्चात् उनका विल्वमंगल (भक्त सूरदास) ख़ूब ही चला है बम्बई में। जिसके लेखक थे—राजकोट के

राज कवि 'नाथूरामजी सुन्दर शुक्ल'। श्रीआग़ा 'हश्र' ने अपना हिन्दी 'सूरदास'–उसी गुजराती के 'सूरदास' को सामने रखकर तैयार किया है। इसी प्रकार 'गुजराती' की एक कम्पनी में 'सती द्रौपदी' ख़ूब चला, जिसे देखकर श्रीकावसजी खटाऊ ने—श्रीनारायणप्रसादजी बेताब से 'महाभारत' लिखवाया।

बम्बई से लौटकर मैंने—'वीर अभिमन्यु' के पहले अंक के जितने भी सीन लिखे थे—सब काट दिए, अच्छे अच्छे 'भाव' जहाँ थे—वे 'वाक्य' रहने दिए। सीनों की तर्तीब भी बदल डाली। सूत्रधार के पश्चात् पहला ही सीन—'श्रीकृष्ण का अर्जुन को गीता का उपदेश' रख दिया। वास्तव में 'वीर अभिमन्यु' मेरे शौक़ का एक 'लेखन' था; जल्दी या पाबन्दी की वस्तु नहीं। तब अवकाश कम मिलता था। 'कथाओं' के अतिरिक्त एक बोझ सिर पर और भी उठाया था—वह था 'पुस्तक प्रकाशन'। यों तो १२ वर्ष ही की आयु से मैं गीत और अपनो 'रामायण' लिखने लगा था–बार बार उनको भी बदलता था; सन् १९०८ से मेरा 'पुस्तक प्रकाशन' चल पड़ा था। पहली पुस्तक तो मैंने मुरादाबाद (लक्ष्मीनारायण प्रेस में) छपाई थी. 'राधेश्याम विलास का प्रथम भाग'। इसकी छपाई में १३) रुपये मेरे लगे थे, पर तिगुने से भी अधिक मुझे मिल गए। 'कथा' में हाथों हाथ वह बिक गई। फिर बरेली (रामाज्ञा प्रेस) में 'द्रौपदी-लीला' छपाई—'सीता–हरण' भी। लखनऊ

(ओरियंटियल प्रेस) में 'भिलनी की भक्ति' छपाई--जो बाद में मैंने 'सीताहरण' के किसी संस्करण में उसे मिला दिया। 'राधेश्याम विलास' के भी चार भाग पृथक् पृथक् छपाए थे—जिन्हें बाद में मिलाकर—एक ही पुस्तक 'राधेश्याम विलास' करदी। इसके बाद 'रामसुग्रीव की मित्रता' और 'सीताजी की खोज' छपीं। बाद में इन दोनों की भी एक किताब करदी—'राम-सुग्रीव की मित्रता'। इस प्रकार इस में भी मेरा बहुत समय लग जाता था। लाभ भी होता था—कुछ ऐसी मनोवृत्ति बनती जाती थी कि—'लाभ का काम पहले करना चाहिए'—'शौक़ का उसके बाद'। 'वीर अभिमन्यु' तो ख़ालिस शौक़ की रचना थी।

कुछ और भी दिक़्क़तें सामने रहती थीं—रुक्मिणी बीबी वाला मकान जब बनने लगा—तो आबचक परनालों आदि की मुक़दमेदारी भी शुरू हुई, धीरे धीरे यह मुक़दमे उस स्थान के चारों ओर—चार पार्टियों से चले। मैं तब यह नहीं जानता था कि किसी की उन्नति होने पर—उसके ईर्षालुओं का भी दल बढ़ता है, पड़ोसी तो बहुत ही जलते हैं। पिताजी सीधे सादे ब्राह्मण थे; गंगास्नान, भजन, ब्रह्मज्ञान की बातों के अतिरिक्त घोड़े टाँगे और गाय भैंसों ही के शौक़ में उनका जीवन अब व्यतीत होता था,—यह जीवन उनका अन्तिम साँस तक रहा। वे क्या जानें मुक़दमेदारी और दुनियादारी! सौभाग्य से बाबू छैलबिहारी कपूर, ऐडवोकेट, से

मेरी मित्रता होगई थी; मैंने उन्हें ही कचहरी के काम सौंपे। फ़ीस लेकर भी सब वकील 'अपनाइत' से पैरवी थोड़े ही करते हैं;—बाबू छैलविहारी में 'अपनाइत' थी, इसी कारण उनसे मुझे—उनके जीवन तक—ऐसी सहायता मिली है।

आख़िर 'वीर अभिमन्यु' यहाँ तक लिख गया कि उत्तरा और सुभद्रा ने 'अभिमन्यु' को युद्ध के लिए विदा किया। मैं मित्रों में बड़ी उमंग के साथ इन सीनों को पढ़ने लगा, और 'वाहवाही' लेने लगा। एक दो दिन के लिए कहीं 'कथा' कहने जाता था—तो 'कथा' के बाद इन 'सीनों' को 'नाटकीय' ढँग से कहीं कहीं सुना देता था। जयपुर के सरदार देवीसिंह (चौमूँ) और श्री 'बालावख्श ख़बास' जैसे कितने ही मेरे प्रेमी—'फ़र्माइशें' कर कर के मुझसे यह 'सीन' सुना करते थे। 'कथावाचकी' हो—या 'कविजीवन'—दोनों में यह भावना रहा करती है कि जिस जल्से में भी हम बोलें 'मीरी' हमीं रहें। जो बात स्वाभाविक है—वह है। मुझमें वह पैदा हुई। इस भावना में इतनी ख़ूबी जरूर है कि अपना पार्ट अदा करने की कला निश्चय ही बढ़ानी पड़ती है। पर एक दोष भी है—वह यह कि—'अहं भावना' भी आती ही है। मैं भी इससे अछूता नहीं रहा। ख़ासकर निरन्तर—सतत—सफलता के कारण भी ऐसा हुआ। अपनी ५० वर्ष की उम्र से मैंने इस स्वभाव पर कण्ट्रोल करना शुरू किया। फिर

भी यह बीमारी कभी कभी उखड़ आती है। इसी तरह जैसे खुजली अच्छा होने पर भी—फिर पैदा होजाती है।

सन् ११ या १२ की बात है—बरेली में काशी विश्वविद्यालय के लिए—धन-संग्रहार्थ महामना प० मदनमोहन मालवीयजी महाराज पधारे थे, दरभङ्गा नरेश भी साथ थे, काशी के स्वनामधन्य श्रीशिवप्रसादजी गुप्त तथा व्याख्यान वाचस्पति श्री प० दीनदयालुजी शर्मा भी थे—और भी कई गण्यमान्य व्यक्ति थे। उनका प्रोसेशन (Procession) बरेली शहर में जैसा निकला—वैसा आजतक बरेली के इतिहास में नहीं निकला है। जल्सा भी वैसा शानदार कम देखने में आया। मेरा भी तब—मेरे कुछ मित्रों ने—गीत गाने का 'प्रोग्राम' रख दिया था। मैंने तात्कालिक गीत बनाए और गाए। जैसे—

"हमारे घर आए हैं आज, मालवी, दर्भंगा महाराज।
भिखारी बने धर्म के काज, मालवी, दर्भंगा महाराज॥
और भी—
हिलमिल करो जाति-उद्धार, भाइयो समय न बारम्बार।
कोटिपती दें लक्ष-लक्ष, लखपती हज़ार—हज़ार।
मध्यम श्रेणी देंय सैकड़ों, निर्धन के दो—चार।
हमें दो पैसे भी स्वीकार—भाइयो, समय न बारम्बार—

इसी प्रकार के ८-१० गीत मैंने बनाए और २-३ दिन गाए, वे बिके भी; और उनकी बिक्री का कुल रुपया (कई हज़ार)

मैंने विश्वविद्यालय के फण्ड ही को दे दिया। महामना मालवीयजी से मेरा यही प्रारम्भिक परिचय था—जो क्रमशः इतना बढ़ा कि अपनी ५० वर्ष की अवस्था में—मैं उनका दीक्षित शिष्य बना।

मालवीयजी ने तब मुझसे पूछा—"क्या करते हो?"

मैंने हाथ जोड़कर कहा—"कथा प्रवचन।"

बोले—"बड़ा अच्छा कर रहे हो, यही 'ब्राह्मण धर्म' है।" फिर कहा—"मेरे पिताजी भी कथा कहते थे, शौक़ तो मुझे भी है। श्रीमद्भागवत और महाभारत से तो अत्यधिक प्रेम है।" इसके बाद उन्होंने मेरी कथा सुनी—अपनी रामायण जब मैंने गाई तो बड़े प्रभावित हुए। बोले—"यह कौन सा छन्द है? लावनी या चौबोला?" मैंने सिर झुका कर कहा—"लावनी में तो चार-चार बोलों के बाद—एक बोल—फिर आस्ताई के क़ाफ़िये का आता है—इस तरह चार चौक में 'ख़याल' पूरा होता है; और चौबोला—उसका तो अर्थ ही यह है कि चार बोल एक क़ाफ़िए के हों। मेरी रामायण के छन्द तो 'दोबोला' हैं, दो लाइनें एक क़ाफ़िए की रहती हैं।" मेरे इस उत्तर पर वे बहुत ही हँसे, मेरी पीठ ठोकी। तब मैंने नाटक लिखने की बात भी कही और 'वीर अभिमन्यु' का भी एक सीन सुनाया—सुनकर बड़े ही प्रसन्न हुए। और बोले—"निश्चय ही तुम्हारा यह नाटक अद्वितीय होगा; सर्वप्रिय होगा।

जब 'स्टेज' हो तो मुझे भी दिखाना।"—साथ ही यह भी कहा—'संस्कृत में नाटकों का भण्डार है, संस्कृत पढ़कर—उसके नाटकों का अवश्य अध्ययन करना।' फिर कहा—"शुरू जवानी में मुझे भी नाटकों से बड़ा प्रेम रहा है, मैंने एक दिन अपने ही क्लब में स्वयं 'शकुन्तला' का पार्ट किया है।"

मालवीयजी महाराज की यह बात उस दिन और भी सुदृढ़ होगई—जब कितने ही वर्षों के उपरान्त—उनके सहोदर श्रीश्यामसुन्दरजी मालवीय ने मेरी कथा 'भारतीय-भवन' में कहलवाई, और एक दिन मुझसे कहा—"जिस शकुन्तला के अभिनय में भाईसाहब ने 'शकुन्तला' का पार्ट किया था, 'दुष्यन्त' मैं बना था।"

निश्चय ही मालवीय-परिवार में भी इस कला के प्रति प्रेम रहा है—यह बात अकाट्य है। मैंने यह सब यहाँ इसलिए लिखा है कि मेरे नाटक-लेखन के प्रारम्भ में—मेरे भावी गुरुदेव का आशीर्वाद मुझे प्राप्त हो चुका था, यह पाठकों को बतला दूँ।

सन् १९१३ ईस्वी के नौम्बर में—'न्यू अल्फ्रेड' फिर बरेली आई—अबकी बार—'अछूता दामन' लेकर आई—जो आग़ा हश्र साहब का लिखा हुआ था। बम्बई की सभी कम्पनियों में 'धार्मिक नाटक' खेलने की लहर का 'श्रीगणेश' तो 'वालीवाला विक्टोरिया कम्पनी' द्वारा हो ही चुका था—'न्यू अल्फ्रेड' के

मालिक भी इस ख़याल के बन चुके थे—पर 'हिन्दी नाटककार' उन्हें नहीं मिल रहा था। मैं तब इत्तिफ़ाक़ से—बरेली ही था;—कम्पनी के असिस्टेन्ट डायरेक्टर 'भोगीलाल भाई' मुझसे मिलने आए—और 'सोराबजी' (डायरेक्टर) से मिलने के लिए मुझे उत्साहित किया। यह अब लिखने की ज़ुरूरत नहीं कि 'न्यू अल्बर्ट' की 'रामायण' से मेरी ख्याति हो ही चुकी थी—मेरी ख्याति—ही ने सोराबजी को प्रभावित किया—और तब उन्होंने 'भोगीलाल' द्वारा मुझे बुलवाया और सहर्ष मैं उनसे मिला।

'सोराबजी' बड़ी 'रोबीली शक्ल' के 'डायरेक्टर' थे। थोड़ी सी बातचीत के बाद उन्हों ने मुझसे 'वीर अभिमन्यु' के 'सीन' सुने। मैं 'कथावाचक' होने के कारण—न उनके 'रोब' में आया—न दबक कर 'सीन' पढ़े। बल्कि ख़ूब 'जोश' के साथ पढ़े—सोराबजी ख़ुश ही नहीं;—ख़ूब ख़ुश हुए। 'भोगीलाल' ने मेरी तारीफ़ करते हुए तत्काल कहा—पण्डितजी भी 'आग़ा हश्र' ही की तरह 'सीन' पढ़ते हैं। सोराब जी ने 'वीर अभिमन्यु' अपनी कम्पनी के लिए पसन्द कर लिया—मैंने जब कहा कि 'न्यू अल्बर्ट' के लिए इसे मैंने लिखा है—तब वे बोले "न्यू अल्बर्ट टूट रही है—उसके मालिक नानकचन्द सख़्त बीमार हैं"—मैंने कहा—"यह आप किस आधार पर कह रहे हैं?" उन्होंने कहा—"उस कम्पनी के एक-दो ऐक्टरों के ख़त

आए हैं—वे हमारी कम्पनी में नौकरी चाहते हैं।" मैंने कहा—"यदि ऐसा है तो आपही की कम्पनी में 'वीर अभिमन्यु' खिलेगा। मैं १–२ महीने बाद इन सीनों को आपके कातिब को लिखा दूँगा, अभी तो मुझ पर समय नहीं है—कल मैं कथा कहने 'नाभा' जा रहा हूँ।" सोराबजी बोले—"तो नाभा से बुलन्दशहर की नुमाइश में आइएगा, कम्पनी यहाँ से बुलन्दशहर की नुमाइश ही में जाएगी"—मैंने 'अच्छा' कहा—और 'हाथ मिलाकर' चल दिया। 'न्यू अल्बर्ट' की चीज़ 'न्यू अल्फ्रेड' को देने में कोई 'इख़लाक़ी जुर्म' तो नहीं है?—उस रात मैं यही सोचता रहा। 'नाभा' में मैंने सुना कि 'नानकचन्द' सचमुच सख़्त बीमार हैं—और 'अम्बाला' हैं—तब मैं उनसे मिलने अम्बाला ही चला गया, उन्होंने सहर्ष यह पसन्द किया कि 'न्यू अल्फ्रेड' में 'वीर अभिमन्यु' जाय।

'बुलन्दशहर की नुमाइश' में पूरे पाँच दिन मैं रहा। पाँच नाटक देखे। सब में 'सोराबजी' का 'कामिक' का पार्ट प्रधान था—पोशाक सादी, मुँह पर 'पेंट' तक नहीं, मुँह बनाना और उछल कूद बिल्कुल नहीं, कहीं कहीं आवश्यक और स्वाभाविक ज़रूर। और शब्दोच्चारण? वह तो कमाल का मुझे लगा। 'कथावाचक' को अपने 'शब्दोच्चारण' पर 'नाज़' था—उनका 'शब्दोच्चारण' देखकर वह 'कपूर' की भाँति उड़ गया। नाटक देखकर मैं सोचता था—'व्याख्यान-वाचस्पति' प०दीनदयालु शर्मा या 'भारतभूषण' महामना श्री प०मदनमोहन

मालवीयजी महाराज में भी—विचारों या भावों को प्रदर्शित करने की 'महान् कला' के साथ साथ 'शब्दोच्चारण का कमाल' सोराबजी जैसा ही है क्या ? वाक्यों की स्वाभाविकता पर ज़ोर, झटकों के साथ-साथ स्पष्ट उच्चारण में 'सोराबजी' मुझे पूर्ण (perfect) ही जँचते थे। मानो वे अपने 'सेण्टेंसेज़' Sentences) दर्शकों के कानों में इस प्रकार डालते थे—जैसे श्रावण में किसी बाग़ के भीतर--शीतल मन्द पवन हमें झकोरों द्वारा स्वतः ही आनन्द देती है। मैंने उनके 'शब्दोच्चारण' को शिष्यवत् माना ।

कम्पनी में कोई 'हिन्दी-कापी-लेखक' नहीं था—इसलिए मेरे सीनों को भोगीलाल भाई ने 'गुजराती' अक्षरों में लिखा, मैं बोल बोल कर और समझा समझा कर उन्हें लिखाता था। उसके बाद २-३ मर्तबा सोराबजी ने उन्हें पढ़ा, एक एक वाक्य को समझा, और अपनी राय क़ायम की कि 'पहला ड्रॉप' इसी सीन पर डालेंगे—जहाँ 'उत्तरा, सुभद्रा युद्ध के लिए अभिमन्यु को विदा करती हैं।' सोराबजी ने स्वयं कहा कि—मुझे उसी सीन पर 'ड्रॉप' डालना पसन्द है—जहाँ क़लम का ज़ोर ज्यादा हो। उन्होंने बार बार कहा—सीन अच्छे से अच्छा लिखा हुआ हो—और बोलने वाले ऐक्टर्स उसे सही तौर पर अच्छे से अच्छा बोल जायें—तो कोई कारण नहीं जो नाटक 'फ़ेल' हो'। इसीलिए 'न्यू अल्फ्रेड' में—'प्राम्प्ट' (prompt) नहीं दिए जाते थे, नाटक की किताब भी 'स्टेज' पर नहीं रहती थी'—ऐक्टर

को ड्रामा ख़ूब याद करने के बाद, ख़ूब घोट कर, अपनी ज़िम्मेवारी पर—पार्ट करने के लिए स्टेज पर खड़ा होना पड़ता था। यह तरीक़ा उस कम्पनी में आगे भी--सन् १९३० तक रहा है।

मुझे यह भी मालूम हुआ कि कम्पनी में दो मुंशी (नाटककार) नौकर रहते हैं, एक का वेतन ५०) मासिक है और दूसरे 'अहसन साहब' का १००) मासिक। आग़ा साहब—इससे भी ज़्यादा वेतन चाहते थे—न मिलने पर वे 'नौकरी' छोड़ कर चले गए।

हिन्दी के लेखकों को भी तब प्रकाशकों से क्या मिलता था? सिर्फ़ ।) या ।।) पेज। १) पेज तो मुंशी प्रेमचन्द ने लिया है—आगे चलकर। ऐसी अवस्था में सोराबजी ने जब ३००) में वीर अभिमन्यु लेने की बात मुझसे कही—तो मैंने बग़ैर बात लौटे वह स्वीकार कर लिया। और १००) उसी वक़्त ले भी लिया। यह भी तय हुआ कि कम्पनी में मैं जब आऊँ तो १ टिकिट सेकिण्ड क्लास का और एक थर्ड का—आने जाने का—कम्पनी देगी। कम्पनी के सभी ऐक्टरों को तब सेकिण्ड क्लास में ले जाया जाता था; स्पेशल ट्रेन से कम्पनी एक शहर से दूसरे शहर जाया करती थी। यह सिलसिला भी कम्पनी का सन् १९३० तक बराबर जारी रहा है।

भोजन के लिए कम्पनी में एक बावर्चीख़ाना मुसलमानों और पारसियों के लिए था और एक रसोड़ा हिन्दुओं का

(नायक जाति के लिए) था—जहाँ बम्बई के औदीच्य ब्राह्मण रसोई बनाते थे। मुझे फिर भी वहाँ खाने में सङ्कोच हुआ। आजकल के नौजवान हँसेगे—पर बात तो ऐसी ही है कि मैंने अपनी जवानी में दोपहर की कच्ची रोटी (दाल रोटी) परदेश में अपने ही हाथ से बनाकर खाई है। हाय री सनातनी ब्राह्मण—परिवार की पैदायश और कथावाचका ! सोराबजी ने जब यह समझा तो २) रोज़ मेरे खाने के निश्चित कर दिए। यह सिलसिला बरसों तक चलता रहा है।

२४ मई सन् १९१३ की रात को तीसरे पहर, मेलट्रेन से बरेली आते समय रामपुर और धमोरा के बीच में—आँधी से एक पेड़ गिरने के कारण मेरे बायें पैर की हड्डी बुरी तरह टूट गई। मैं तब खिड़की के बाहर पैर लटकाए—सो रहा था। यह पैर ठीक होने में एक वर्ष से ज्यादा समय लग गया। 'कथायें' भी बन्द, और किताबें लिखना भी बन्द। 'वीर अभिमन्यु' कौन लिखता ? आख़िर दैनिक व्यय के लिए सन् १४ में मुझे बैसाखियों पर चल-चलकर कथायें बाँचनी पड़ी हैं। जयपुर के 'ख़वासजी' ने तब कहा था—अब तुम 'तैमूरलंग' हो गए, भाग्य चेतने का समय शुरू हो गया। निश्चय ही तब से 'ख़वासजी साहब' ने मुझे २००) फ़ी मुलाक़ात—दक्षिणा दी है; कथा हो या न हो। उन्हीं दिनों 'नानकचन्द' (न्यूअल्वर्टवालों) की मृत्यु भी सुनी; धक्का सा लगा। यह भी सुना कि 'सूरत' में

'न्यू अल्फ्रेड' के 'मँडवे' में आग लग गई। इसका भी बड़ा दुःख हुआ। दैवीय कोप को किसने रोका है ?

सन् १९१५ के जाड़ों में—'सोराबजी' के बहुत बुलाने पर मैं कानपुर गया और 'चक्रव्यूह' का सीन उन्हें दिया। उन्हों ने 'चक्रव्यूह' के सीन पर भी 'ड्राप' डालना निश्चय किया। सीन लम्बा भी था और बहुत तोड़फोड़ का था;—साथ ही 'करुणाजनक' भी बहुत था। कानपुर में मैं ने पहली बार 'आग़ा हश्र' को देखा। वे अपना नाटक 'सूरदास' कम्पनी में बेचने आए थे—१०००) में। नाटक सुनाते समय 'हश्र साहब' ने मुझे भी बुलाया और बड़े शिष्ट शब्दों में कहा— 'मैं मुसल्मान हूँ, उर्दू मेरी ज़बान है, यह धार्मिक नाटक है, हिन्दी भी इसमें है। कहीं कोई त्रुटि हो तो निःसङ्कोच मुझे बताइएगा।" जब उन्हों ने उसे पढ़ा तो मैंने समझ लिया कि वाचन (बोलने) और अपनी वस्तु को बेचने की कला में हश्रसाहब बड़े दक्ष हैं, मेरे ही सामने सोराबजी ने उनसे कहा—आपका एक ही सीन १०००) का है—जहाँ चिन्तामणि बिल्वमंगल से कहती है—"जितना मुझे चाहा है—उतना भगवान् को चाहते तो कल्याण हो जाता।"

मैं ने उस रात सोचा कि 'वीर अभिमन्यु' रुक गया, 'सूरदास' खिलेगा। पर अगली रात मुझे मालूम हुआ कि

सोराबजी ने 'आग़ा हश्र' से मना कर दिया, कह दिया—'वीर अभिमन्यु' खेलने के बाद 'सूरदास'—ले सकता हूँ। मैंने इसे अपना 'सौभाग्य' ही समझा।

कानपुर की ८-१० दिन की रिहाइश में 'एक दिन' मेरा बहुत ही 'कठोर' गुज़रा। 'हश्र साहब' भी तब वहीं थे। 'वीर अभिमन्यु' के एक शेर पर 'सोराबजी' ने शङ्का खड़ी करदी :—

जो ज़्यादा मीठा होता है—वह अपना नाश कराता है।
मीठी बोली के कारण ही--तोता पिंजड़े में आता है॥

उन्हों ने कहा कि—"इस की पहली लाइन 'अर्थ' की दृष्टि से बिल्कुल सही नहीं है; दूसरी लिख दीजिए"—मैंने १-२ घण्टे में १५-१६ लाइनें लिख लिखकर उन्हें दिखाईं। सब 'फ़ेल' हो गईं। मुंशी 'बेकल' और 'अहसन' से भी उन्होंने लिखवाईं, 'हश्र साहब' से भी लिखवाईं। 'हश्र' की यह लाइन कुछ पसन्द की :—

राग, रंग, रस के प्रभाव से—कण्ठ में फन्दा जाता है।

अन्त में २७ वीं बार--मेरी वह लाइनें—रक्खी गईं—जो 'वीर अभिमन्यु' की मुद्रित कापी में छपी हैं। अर्थात् :—

विपरीत समय का मीठापन, विष का सा फल दिखलाता है।
मीठे वचनों के कारण ही, तोता पिंजड़े में आता है॥
जो ज़्यादा मीठा होता है, वह अपना नाश कराता है।
मीठे गन्ने को देखो तो, कोल्हू में पेला जाता है॥

मई के पिछले और जून के पहले सप्ताह में—कम्पनी जब लखनऊ थी - तब मैं ने वह सीन कम्पलीट (complete) करके 'सोराबजी' को दिखाया—जहाँ - 'अभिमन्यु के वियोग में सुभद्रा उत्तरा का विलाप और श्रीकृष्ण से सम्वाद' था। यहाँ भी 'सोराबजी' ने शङ्का खड़ी करदी—'पहले अङ्क में 'सुभद्रा'—बड़े जोश खरोश से 'अभिमन्यु' को युद्ध के लिए विदा करती है—"देखना लाल, कुल को कलङ्क न लगाना, युद्ध से हार मानकर यहाँ न आना, हारा हुआ मुँह मुझे न दिखाना, अपनी माता की कोख न लजाना :—

अगर जय पाके आओ तो सुभद्रा की ये गोदी है—
नहीं तो पाण्डवनन्दन,—तुम्हारी मात, पृथ्वी है ॥"

"फिर—वियोग के सीन में इतना क्यों रोती है ?"

'सोराबजी' की इस शङ्का का मुझ पर बड़ा असर पड़ा—मैंने समझ लिया कि यह भाषा, भावों, वाक्यों ही के 'जानकार' नहीं;—'चरित्र-चित्रण' भी बहुत अच्छी तरह समझते हैं। निश्चय ही उपरोक्त विषय का मास्टर मैंने उन्हें आगे चलकर भी माना है—उनसे अच्छा दूसरा डायरेक्टर मुझे मिला ही नहीं। उनकी शंका का समाधान जब मैंने उसी सीन में कर दिया—तो—'वाह पण्डितजी !' कहकर वे खड़े हुए—और उनके खड़े होते ही—उनके आदर में—मैं जब खड़ा हुआ तो—वे मुझसे लिपट गए;—हृदय मिलाकर

मिले;—उस दिन मैं उन से इतना 'वात्सल्य' लेकर विदा हुआ। उनकी शंका का समाधान सुभद्रा श्रीकृष्ण ही के सम्वाद में—इस भाँति मैं ने लिखा था—

श्रीकृष्ण—"सुभद्रे, तुम्हें याद है—तुम्हारा पुत्र अभिमन्यु जब युद्ध में जारहा था तब तुमने क्या कहा था? तुमने कहा था—'हारा हुआ मुँह मुझे न दिखाना'—क्यों—उस समय तो तुमने ऐसा उत्साह दिखाया—अब यह बावैला क्यों मचाया? कृष्ण की बहिन होकर भी तुम में यह अज्ञानपन क्यों आया?"

सुभद्रा—"भाई, समझदार होकर भी यह रहस्य तुम्हारी समझ में नहीं आया? वह वीर क्षत्राणी का धर्म था—जिसने युद्ध में जाते समय उसे उत्साह दिलाया, और यह मातृस्नेह है—जिसने 'पुत्र वियोग' में बावली बनाकर रुलाया।"

लखनऊ में मैं सिटी स्टेशन के क्वार्टर में—'मालबाबू चौबे सीताराम' के यहाँ ठहरा था। उस क्वार्टर के बाहर एक इमली का पेड़ था, उसी के नीचे एक बानों की चारपाई पर मैंने वीर अभिमन्यु के कई सीन ठीक किये हैं। आज जब देखता हूँ कि 'लूओं में' ख़स की टट्टियों वाले कमरे में से दिन भर निकल नहीं सकता—तब वे दिन याद आते हैं कि लूओं ही में सीन लिखे, ख़ूब लिखे—यह ध्यान ही नहीं था कि 'लू' चल रही है। बल्कि शाम को ५ बजे जब 'सोराबजी' से मिलने

कम्पनी के बँगले पर जाता था—तो किसी किसी दिन उन्हें—ख़स की टट्टी के कमरे में—सोते हुए देखकर प्रतीक्षा में बाहर बैठा रहता था--उनके सोने पर तो ध्यान था—'ख़स की टट्टी' पर तब भी ध्यान नहीं जाता था। उस समय भी 'सीन' और उनका 'लेखन' ही मेरे मस्तिष्क में घूमा करता था।—यह बात मैं आजकल के नवयुवकों के लिए लिख रहा हूँ जिनकी 'नज़ाकत' देख-देखकर—तौबा तौबा !—इस बुढ़ापे में भी मैं 'तब' और 'अब' के विचार में बहकने लगता हूँ।

लखनऊ से पुरस्कार के दूसरे १००) लेकर मैं विदा हुआ। 'अन्तिम अङ्क' तो मैंने 'सहारनपुर' से—विजयादशमी के सप्ताह में जब मैं वहाँ कथा कहता था— 'रजिस्टर्ड पोस्ट' ही से भेज दिया था। इतने दिनों में 'सोराबजी' मेरे हिन्दी के अक्षर—ख़ूब पढ़ने लगे थे। मेरे पत्र हिन्दी ही में जाते थे—और उनके पत्र गुजराती लिपि में (हिन्दी भाषा के) आते थे।

दिवाली बाद कम्पनी 'दिल्ली' आई, 'संगम थिएटर' में, जो आजकल 'जगत' टाकी है; 'वीर अभिमन्यु' स्टेज करने के इरादे से। मुझे पत्र मिला कि 'गानों के बोल बनाने आइए'। गढ़मुक्तेश्वर में कार्तिकी पूर्णिमा का गंगास्नान करके मैं देहली पहुँच गया, 'संगम थिएटर' के पीछे के रूम में सोराबजी ठहरे थे। इस बार अपने सामने के एक रूम ही में उन्होंने मुझे ठहराया। वहीं 'अंगीठी पर' मैं अपनी 'रोटी' सेंक लिया

करता था। अब मैं ने देखा—'न्यू अलबर्ट' के भी दो ऐक्टर कम्पनी में आ गए हैं—'अब्दुलरहमान काबुली' और 'निसार'। उन्हीं से मालूम हुआ कि 'रहीमबख़्श' कलकत्ता गया और 'रहमतअली' ने पञ्जाब में अपनी ख़ुद की कम्पनी बना ली है। हाँ—वह तबला मास्टर 'उस्ताद गुलामहुसैन' भी 'न्यूअल्फ़्रेड' में आगया था। 'न्यूअल्फ़्रेड' का बड़ा हारमोनियम मास्टर 'निहालचन्द' था। निश्चय ही 'ख़ूब हारमोनियम बजाता था'। तर्ज़ें भी वही बनाता था। परंपरा यह थी कि तर्ज़ मास्टर की बनाई हुई तर्ज़ (ट्यून) पर लेखक बोल बनाए। मैं इस परम्परा को बदल देना चाहता था; क्योंकि इसमें 'अच्छे बोल' नहीं बन पाते थे। मुझ कथावाचक की धारणा थी—कि 'अच्छे बोल' ही जनता पर पहले प्रभाव डालते हैं—तर्ज़ बाद की चीज़ है। काश अच्छे बोल के साथ तर्ज़ भी अच्छी हो—तब तो 'सोना और सुगन्ध' है। पर यह तभी हो सकता है जब दोनों चीज़ें बनाने वाला एक ही 'व्यक्ति' हो। अन्यथा—'एक दिल वाले'—'दो योग्य व्यक्ति' भी ऐसा कर सकते हैं। 'निहालचन्द' गुजराती और मैं उत्तर भारती—मेल मिलता नहीं था—तब 'उस्ताद गुलाम हुसैन' बीच में पड़ा। वह पढ़ा लिखा था, मेरी भाषा को पूरा समझता ही नहीं था—उसके भावों तक की तह में पहुँचता था,—यह भी समझता था कि यह गाना किस सीन में—किस अवसर पर—किस ऐक्टर द्वारा होगा।

संगीत भी—ख़ूब समझता था, ख़ासकर नाटक का संगीत—'न्यू अल्बर्ट' ही में मैंने उसे अपने फ़न का 'उस्ताद' माना था।

आख़िर यह तय हुआ कि कुछ गानों के बोल पहले बनेंगे, और कुछ के बोल 'ट्यूनें' बन जाने के बाद। पहले जिनके बोल बने थे—वे गाने यह हैं—

हम भक्तन के भक्त हमारे...
देखो प्रेम का पन्थ निराला...
वे शूरवीर रण में लड़ने जाते हैं...
ख़ुशामद ही से आमद है...
हरी, हरिये अब तो संताप...
ज़माना रंग बदलता है...
मैं तो पिया की दिवानी...
बिना पति सूना सब संसार...

ट्यून बन जाने पर—इन गानों के बोल बने—

जय गणपति गणनायक...
हे हरि झींझरा नैया...
रिमझिम बरसे मेह...
मोहि पिया की डगरिया दिखादो सखी ..
गारी दूँगी लाखन में...
भलाई बुराई सोचो न भाई...
टूटी हाय ! मो पै बिजुरिया...

बोलो श्रीकृष्णचन्द्र की जय...

नाचोरी आज ठुमक ठुमक मोहनियाँ... आदि।

नाच के गाने तो 'नाच मास्टर' की राय मिलाकर ही बनते हैं—नाच मास्टर थे 'भोगीलाल भाई'। उन्होंने पास बैठकर नाच के बोल और उसकी तर्ज़ को अपनी पसन्द से बनवाकर, रखवाया। 'सोराबजी' को न जाने क्या धुन सवार हुई—एक गाने की तर्ज़ और बोल उन्हीं के रहे—

'अहो गिरिधर नटवर प्यारे'..

मैंने भी सोराबजी की होड़ की—और निम्न बोल अपनी तर्ज़ के रक्खे—

'भारत वीरों की याद में यह गाना भी रोना है...

पञ्च तत्व दश इन्द्रियाँ यह सर्वत्र समान...

प्रणवीर जाओ जाओ...

संस्कृत का भी एक गीत होना चाहिए, इस भावना से—'शिव-ताण्डव' भी थोड़ा-सा रख दिया—

'प्रफुल्लनीलपंकजप्रपंचकालिमप्रभा'

अपनी जड़ कविता में जान डालने के लिए—दो गीत पुराने कवियों के रक्खे—कुछ अदल-बदल कर :—

१—हम भक्तन के भक्त हमारे... 'सूरदास'

२—मैं तो पिया की दीवानी... 'मीराबाई'

ट्यूनों (बैक ग्राउण्ड म्यूज़िक) को कई सीनों में—

'निहालचन्द' ने ख़ुद ही 'सेट' किया; और मुझ से तथा 'सोराबजी' से 'पास' करा लिया।

इस प्रकार एक महीने में गाने ठीक हुए। इस महीने भर मैं ने 'सोराबजी' का रिहर्सल चलाना भी देखा। शब्दोच्चारण वे 'जी भर कर'—'अच्छे से अच्छा' ऐक्टरों को सिखाते थे। ऐक्टिंग के लिए तो कहते थे स्वयं 'स्वाभाविक' करो। 'शब्दोच्चारण' की 'रिहर्सल'—'स्पेशलक्लास' में—बैठकर ही—चलती थी। 'स्टेज' पर खड़े होकर 'ऐक्टिंग' की रिहर्सल चलती थी। स्वाभाविक ऐक्टिंग जिस ऐक्टर का 'सोराबजी' को ठीक जचता था - वे उतने ही 'ऐक्टिंग' को 'सेट' कर देते थे। 'ओवर-ऐक्टिंग' को 'काट' देते थे। मैं ने उनका 'ढङ्ग' भले प्रकार उसी महीने में समझ लिया। 'सीनरी—और 'ड्रेस' की तरफ़ 'सोराबजी' स्वयं ध्यान कम देते थे, वह उन्हों ने 'भोगीलाल भाई' पर छोड़ रक्खा था। 'भोगीलाल' को सीनरी बनवाने से दिलचस्पी थी। 'न्यू अल्फ्रेड' का क़ायदा था कि प्रत्येक नए नाटक की पूरी सीनरी और पूरी ड्रेसें (जूते तक) 'नवीन' बनें। 'ड्रेस मास्टर' (बड़ा दर्ज़ी) बहुत होशियार था, बारहमासी नौकर था, लखनऊ का 'मोहम्मदअली'। 'वीर अभिमन्यु' नाटक की ड्रेसें, इसने इतनी शानदार, और तड़क भड़क वाली बनाई थीं—कि लोगों की राय थी—'आज तक ऐसी देखी ही नहीं।' मैं ने और सोराबजी ने तो स्टेज पर जब एक एक सीन

दिखाया गया—और एक एक पोशाक पहना कर बताई गई—तो उन्हें 'पास' कर दिया। मैं एक दो जगह 'विरोधी' भी हुआ था—पर मैं ने उस 'विरोध' को 'दिल' ही में रक्खा, कहीं बेवक़ूफ़ न बन जाऊँ। 'सीनरी' और 'ड्र ेस' का ज्ञान तो इस नाटक में प्राप्त कर रहा था—उसका 'जानकार' नहीं बन पाया था;—फिर भी 'कैलास' के सीन और 'गरुड़' पर मैं ने कुछ 'एतराज़' किए। 'हरिश्चन्द्र' नाम का एक पंजाबी 'चीफ़ पेण्टर' था –उसने बात आगे न बढ़ाकर—मेरे सुझाव मान लिए– और कई दिन बाद 'सुझाव' के अनुसार ही उन्हें बना–दिखाकर—'पास' करा लिया।

इस महीने एक 'कुरेदन' बहुत ही हुई—'भोगीलाल' थे असिस्टेण्ट डायरेक्टर—फिर कामिक में 'सोराबजी' के साथ 'स्त्री' पार्ट करने में 'नाम' पाचुके थे,—उनके 'लिहाज़' से–या–स्नेह से 'सोराबजी' ने उन्हें हीरो का (अभिमन्यु का) पार्ट दिया था। 'स्त्री' का पार्ट करने वाला ऐक्टर 'वीर अभिमन्यु' के पार्ट में कैसे फ़िट हो सकता है? ऐसी भूलों के कारण तो बड़े बड़े नाटक फ़ेल होजाते है—पार्ट की नेचर और ऐक्टर की नेचर मिलाकर पार्ट बाँटना चाहिए। पार्ट के अनुसार क़द, रूप, उच्चारण भी देखना चाहिए। पर नाटक कम्पनियों के मालिकों या डायरेक्टरों में – यह 'अन्धापन' प्रायः रहता है कि अपने 'प्यारों' को—आगे बढ़ाने के

लिए—वे बड़े से बड़ा पार्ट उन्हें दे देते या दिला देते हैं, चाहे वे उस पार्ट के लिए योग्य हों या न हो ।

मैं अपने पहले नाटक को 'कमज़ोर' नहीं देख सकता था;—फिर 'न्यू अल्फ्रेड' का भी तो इस में 'लाभ' था कि नाटक अच्छा स्टेज हो । आख़िर एक दिन 'सोराबजी' के सिर हो ही गया;—सामने ही के रूम में तो वे रहते थे । पूरी बात सुन कर और समझकर उन्हों ने 'मान' ली, मगर इतना ज़रूर कहा कि 'मैं भोगीलाल' से नहीं कह सकता कि तुम 'अभिमन्यु' का पार्ट छोड़ दो' । मैं ने कहा—'मैं कह दूँगा' ।

आख़िर 'भोगीलाल' से मैं भिड़ा । 'संगम थिएटर' के सामने वाले बाग़ में उन्हें लेजाकर ख़ूब समझाया, पर उन्हें तो 'स्त्री' पार्ट करना ही अब पसन्द नहीं था; इसलिए—मैंने सुझाव रक्खा कि तुम 'श्रीकृष्ण' का पार्ट करो । वे बोले—"तैयार कैसे कर सकूँगा—नाटक तो एक महीने बाद खेला ही जायगा ।" मैंने कहा—"मैं तैयार कराऊँगा, अपने ऊपर ज़िम्मा लेता हूँ ।" यह भी समझाया कि 'श्रीकृष्ण' का 'पार्ट' अच्छा कर जाओगे—तो नाम हो जाएगा—घर घर तुम्हारे 'फ़ोटो' लोग रक्खेंगे । निश्चय ही आगे चल कर यही हुआ, 'भोगीलाल' सुन्दर तो थे ही—उनके 'श्रीकृष्ण' के पार्ट के फ़ोटो लोगों ने घरों में रक्खे,—ख़ुद 'सोराबजी' के कमरे में भी सदा वह 'फ़ोटो' रहा । 'भोगीलाल' को ड्रामा सिखाने के साथ साथ—मैं यह भी रोज़ 'हिदायत' कर देता था कि तुम

जब जब स्टेज पर आओ, तुम्हारी 'मन्द मुस्कान'—'एक सी'—क़ायम ही रहे। फिर चाहे 'गीता-उपदेश' का सीन हो, या 'अर्जुन-प्रतिज्ञा' का, या 'सुभद्रा उत्तरा के विलाप' का। ऐक्टर भोगीलाल की यहाँ मुझे प्रशंसा करनी पड़ती है—बड़े बड़े ऐक्टर जिस बात को 'अदा' नहीं कर सकते—भोगीलाल ने उसे किया;—अपनी 'मन्द मुस्कान'—'एक सी'—सभी सीनों में क़ायम रक्खी।

'पार्ट' जब एक बदला तो क़रीब क़रीब सभी बदले। 'अम्मूलाल' अभिमन्यु बना, 'ऐलीज़र' अर्जुन, 'अब्दुलरहमान काबुली' भीम, 'जगन्नाथ' सुभद्रा, 'निसार' उत्तरा। पुरानों में युधिष्ठर 'रियाज़', द्रोणाचार्य 'मगनलाल', जयद्रथ 'ऊमर भाई', खटपटसिंह 'सोराबजी ढूँढी' (जिस के ग्रामोफ़ोन रिकार्ड चले हैं) और शङ्कर 'गङ्गाप्रसाद भाई'। कामिक में सोराबजी ने 'पशा'—'पुरुषोत्तम'—को सुन्दरी बनाया। 'अम्मूलाल' और 'निसार'—को भी मैंने भोगीलाल के अतिरिक्त किसी किसी दिन सिखाया है। मेरा यह रिहर्सल 'बाग़' में चलता था—थिएटर में 'सोराबजी' का। निश्चय ही 'पार्टों' के बदलने में 'सोराबजी' पर बड़ी मेहनत पड़ी। मेहनत तो मुझे भी करनी पड़ी—पर मेरी तो 'जवानी' थी—'थकान' शब्द मेरे कोष ही में न था।

एक काम और मेरे सिर पड़ा—नए नाटक के इश्तहार लिखकर—हिन्दी उर्दू में छपवाना, समाचारपत्रों में

'पब्लिसिटी' करना और गानों की किताबें छपाना। यह अच्छाही हुआ कि मैंने यह काम अपने हाथों में लिया, अन्यथा कम्पनी में तो यह हाल था कि पहले ही दिन दर्वाज़े के बोर्ड पर 'अभिमन्यु' की जगह 'अभिमनियाँ' लिखा था—बोर्ड भी मैंने ही ठीक कराए। इन कामों में मुझे ढाई मास देहली रहना पड़ा, मेरी दो बड़ी बड़ी कथाएँ मारी गई—नुक़सान हुआ—हो—'नाटक तो अच्छा खिला'—हाय रे शौक़ !

नाटक खेलने का दिन वसन्त पंचमी (४ फ़र्वरी सन् १९१६) चुना गया था, मुहूर्त्त निकलवाकर। मुझे याद आता है—उसी दिन–'काशी विश्व-विद्यालय' का शिलान्यास—(बुनियादी पत्थर रखने का उत्सव) था। २ फ़र्वरी की रात को 'ग्राण्ड रिहर्सल' हुई। 'न्यू अल्फ़्रेड' की 'ग्राण्ड रिहर्सल' में ऐक्टर्स पोशाक पहनकर पार्ट नहीं करते थे। सीन-सीनरी के साथ नाटक पूरा स्टेज होता था। 'ग़लतियाँ'—हाउस में बैठे हुए-हमलोग लिखते जाते थे—खेल में 'टोकते' नहीं थे। ९॥ बजे रात को शुरू होकर, तीन बजे के क़रीब-रिहर्सल ख़त्म हुई। 'बड़ा लम्बा नाटक होगया'—'काटना ही पड़ेगा' मैंने तय किया। उधर कम्पनी के मालिक 'माणिक जी, जीवन जी, मास्टर' 'रिहर्सल' देखकर बिल्कुल उदास होगए। उनकी राय में खेल 'टोटली फ़ेल' हुआ। 'पैसा'-बर्वाद हुआ। एक फ़िक़रा भी उन्होंने 'सोराबजी' से कहा-' इतनी ज्यादा हिन्दी का नाटक समझ सकेगी पब्लिक ?"

'सोराबजी' ने तुरन्त कहा-"इसीलिए मैंने 'कामिक' ज्यादातर उर्दू ही में लिखवाया है"-उदास 'सोराबजी' भी थे। रिहर्सल के बाद किसी से बोले नहीं, अपने कमरे में जाकर, किवाड़ बन्द करके, सो हो गए। हमलोग भी अपने अपने रूमों में चले गए।

३ फ़र्वरी, शुक्रवार का दिन छुट्टी का दिन था। दोपहर को मैं 'सोराबजी' के 'रूम' में—यह कहता हुआ दाख़िल हुआ-"खेल लम्बा होगया—काटना पड़ेगा।" उन्होंने कहा—अब तो 'शनिवार' (यानी कल) की रात और इतवार (यानी परसों) के दिन—इसी प्रकार खेलकर 'सोमवार' को काटेंगे। पब्लिक के सामने किस किस सीन का-कौन कौन सा भाग कमज़ोर जाता है—यह समझ कर ही-काटना ठीक होगा। इसी सिलसिले में अधिक हिन्दी की बात चली—'सोराबजी' ने कहा-"पण्डित जी, असल में मेरे भीतर 'हिन्दी' के प्रति प्रेम है। यह प्रेम 'काशी' के एक बूढ़े पण्डित ने पैदा कर दिया था—जब वे अपना लिखा एक नाटक 'प्रभासमिलन' मुझे सुनाने आए थे, मैंने उनका नाटक ले लिया- उसके बाद अकस्मात् उन पण्डितजी का स्वर्गवास होगया! पारसी कम्पनी का डायरेक्टर अमृतलाल तब मेरी कम्पनी में था; मैंने पण्डित जी को और उसे दोनों को 'गानों के बोल' लिखने लिखाने में लगाया था—कैसे अच्छे बोल लिखे गए थे:—

"मधुबन है गयो ऊजर बन्जर, कुञ्जन लागी आग ।
वंशीधर ने हमको त्यागा, हम साधा बैराग ॥"

और भीः—

'गोरी गोरी गोपियों में-कान्ह मेरा काला'—'काला जग उजियाला' आदि २।

'न्यू अल्फ्रेड' में आग जब लगी-तो वह हस्तलिखित नाटक भी जल गया !

'ग्राण्ड-रिहर्सल की उदासी की बात जब चली-तो सोराब जी ने कहा—"अधिक हिन्दी स्टेज पर पहुँचाकर-हम परीक्षण कर रहे हैं, कर तो अच्छा ही रहे हैं—अब 'भगवान्' जाने।"

सोराबजी से तारीफ़ सुनकर—उसी वर्ष मैंने बम्बई और कलकत्ते से दो 'प्रभासमिलन' नाटक मँगाकर पढ़े; पर सोराब जी के कथनानुसार तो वे नहीं जँचे। फिर पूछने पर मालूम हुआ कि काशी के उन पण्डितजी का 'प्रभासमिलन' तो छपा ही नहीं था। उन पण्डित जी का नाम रामगोपाल पाठक था, शायद 'भारतेन्दु' के समकालीन—वे बूढ़े पण्डित रहे हों !

उस रात मैं जब सोने लगा-तो 'सोराबजी' का यही फ़िकरा दिमाग़ में नाचा-'हम तो अच्छा ही कर रहे हैं—अब भगवान जानें।' मैंने सोचा-"यह मनुष्य शरीर जड़

है-इसमें व्यापक एक चैतन्य शक्ति है-जो इसे चलाती है। वह शक्ति निराकार है,—'बुद्धि' भी तो निराकार है, 'निराकार बुद्धि' द्वारा जैसी सूझती है वैसा ही इस 'शरीर का अभिमानी' करने लगता है-तब तो 'शरीर के अभिमानी' के पास अपना कुछ नहीं है,—है तो केवल मिथ्याभिमान है। वास्तव में 'बुद्धि' द्वारा,—भगवान् का जो विधान है-वही हुआ करता है।"

४ फ़र्वरी के सवेरे ग़ुसलख़ाने में—ख़ूब गर्म पानी से—देर तक मैंने स्नान किया। बात विचित्र है, पर आज के भौतिक वादियों के सामने—'सत्य कहौं' लिख कागद कोरे—के अनुसार लिखे देता हूँ,—कई लोटों के बाद जब एक लोटे का गर्म पानी सिर पर डाला-तो अन्दर से किसी ने कहा-"नाटक पास है।" मैंने नहाने के बाद अपने नौकर, मेरठ के चौरासिया ब्राह्मण 'बनारसीदास मास्टर' से यह सब कहकर—कहा—'आज ज़िन्दगी में पहली बार—ऐसा हुआ है।' नौकर ने मुझे ख़ुश करने को कहा-"आपने बड़ी 'तपस्या' की है,—इस नाटक में; भगवान् भक्त की सुनते हैं;—मैं भी कहता हूँ—"नाटक पास है।"

सुबह ९ बजे—नए और स्वच्छ वस्त्र पहनकर-घण्टी बजते ही-मैं रिहर्सल में गया। अपनी लिखी हुई 'ग़लतियाँ' 'सोराब जी को दीं, भोगीलाल ने भी अपनी 'मिस्टेक बुक' सोराबजी को दी। यह छोटी छोटी त्रुटियाँ थीं, सीनरी और ऐक्टरों

के उच्चारणों की,—दो चार आने जाने की भी थीं—तुम इस 'वींग' से न आकर उस 'वींग' से आओ, और तुम उस 'वींग' से न जाकर उस 'वींग' से जाओ, आदि। गानों में—उस गाने का एक स्वर और ऊँचा करो, और वहाँ एक 'मुरकी' और बढ़ाओ;—आदि। सोराबजी ने एक घण्टे ही में वह सब ग़लतियाँ दुरुस्त कर करा दीं। अब नया ड्राप उठाने की रस्म का वक़्त आया। पारसी ऐसे वक़्त कुछ पूजा सी करते हैं। हिन्दुओं ही की भाँति—थाली में धूप, कपूर, फूल, बताशे आदि रखते हैं। बाँटने को पेड़े, लड्डू भी आवश्यकतानुसार मँगाते हैं। ड्राप उठाने के पहले एक 'नारियल' तोड़ते हैं, तोड़ते तो शराब की बोतल भी हैं। ड्राप उठते ही एक 'प्रार्थना-गान',—फिर प्रसाद बँटता है। यह सब रस्म स्वयं 'प्रोप्राइटर-साहब' ने कराई। 'प्रार्थना-गान' उस दिन 'वीर अभिमन्यु' वाला ही हुआ-"जय गणपति, गणनायक—आदि।" यह रस्म होजाने के बाद भोगीलाल ने मुझसे कहा-मैंने आज सत्यनारायण की कथा का भी आयोजन किया है। रसोड़े में भी 'हलुआ पूरी' का जीमण (गुजराती में जेवनार को 'जीमण' कहते हैं) रक्खा है। मुझे भोगीलाल की बात अच्छी मालूम हुई। उस दिन २ बजे के बाद मैंने 'दोपहर वाला' विश्राम किया।

शाम को थिएटर में बड़ी चहल पहल थी, भीतर भी, बाहर भी, जैसे—कोई शादी हो। टिकिट इतने बिके थे—कि

नई कुर्सियाँ डालने के बाद भी – खड़े रहने तक की—जगह नहीं रही। मेरा सोफ़ा तो—हारमोनियम मास्टर के पीछे वाला सोराबजी ने पहले ही से 'रिज़र्व' करा दिया था—जिसमें दायें में—बीच में सोराबजी के और मेरे एक हल्वाई दोस्त 'नन्ने' के लिए स्थान था, उनके बराबर मेरा नौकर 'बनारसी मास्टर' इस लिए था कि हमारे लिए 'पान'-'पानी' आदि-उठ उठ कर लाए। ठीक पौने दस बजे 'ड्राप' उठा। प्रार्थना के बाद—पहले ही गाने—"भारत वीरों की याद में' - आदि की क्रमशः तीन 'वंसमोरें' हुईं। मैं 'हर्ष' लेकर सोराबजी के पास 'स्टेज' में जाने को हुआ कि कम्पनी के मैनेजर—श्री गोरीशंकर मिश्र – ने (जो बरेली ही से कम्पनी के मैनेजर होकर कम्पनी में दाख़िल हुए थे—और अपने परिश्रम से प्रोप्राइटर के बड़े प्यारे बन गए थे) मुझसे कहा—'अभी उमंग रोको"। 'मिश्रा' की बात मुझे जँची- पहला ड्राप गिरने के बाद मैं 'सीट' पर से उठा और थिएटर के बाहर गया। लोग नाटक की तारीफ़ें कर रहे थे—कोई 'श्रीकृष्ण' की कोई 'अर्जुन' की, कोई 'उत्तरा' की, सोराबजी (राजाबहादुर) की तो सभी के मुख पर प्रशंसा थी। दूसरा ड्राप गिरने के बाद जब मैं बाहर गया तो जनता यही कह रही थी—'ऐसा नाटक नहीं देखा'। वास्तव में मुझपर भी 'चक्रव्यूह' सीन का बहुत ही प्रभाव पड़ा। ऐसा सीन तो मैंने भी किसी नाटक में नहीं देखा था। 'अभिमन्यु' के निधन पर जब ऊपर से देवताओं ने विमान से कुछ नीचे उतरकर 'पुष्प-

वर्षा' की है—तो जनता ने तो बार बार ड्राप उठवाकर अपनी तृप्ति की, और मैं 'आँखें मूँदकर' थोड़ी देर के लिए 'खो' सा गया। तीसरे अंक के अन्तिम सीन में– सफ़ेद धोती पहन कर, बाल खोले, लाल टीका लगाए 'उत्तरा' बना हुआ 'निसार' जब यह गाते हुए निकला—"टूटी हाय! मोपै बिजुरिया"— तब तो मैं अपने लिए सँभाल ही न सका; उस मौक़े से हट जाना चाहा, अपने रूम की तरफ़ चल दिया, रास्ता स्टेज के पास से होकर जाने का था, मैंने देखा 'सोराबजा' एक बड़े सन्दूक़ पर पूरा सिर नीचे झुकाए हुए हैं, मेरे मुख से निकला "सोराबजी सेठ?"—उन्होंने सिर उठाया. 'अश्रुधारा' बह रही थी। 'कुछ नहीं' कहकर मैं अपने रूम में चला गया, वह गाना ख़त्म होने पर लौटा तो सोराबजी ने कहा 'मुबारक'। मैंने कहा—'आपको भी मुबारक'।

अगले दिन 'इतवार' था, प्रत्येक इतवार को यह कम्पनी दिन ही में खेल खेला करती थी, तीसरे पहर से कुछ रात तक, वही प्रोग्राम आज भी तारीख़ ५-२-१६ को था। देहली के क़रीबर सभी 'रईस' आजका नाटक देखना चाहते थे—पर 'बुकिंग' तो बन्द हो चुका था—आख़िर अगले हफ्ते के शनि, रविवार के 'रिज़र्वेशन' आज ही से शुरू हो गए। मैं और भोगीलाल तो इसी धुन में थे—कि किस सीन में से क्या क्या काटें? पर सभी सीनों में जनता की तालियाँ —हमें यह समझने ही न देती थीं,—कि कहाँ कम करें, फिर

भी हमें तो नाटक छोटा करना ही था, कुछ 'नोट्स' डायरियों में लिख ही लिए। अचानक मुझे एक 'बड़ी बात' सूझी,—मैंने भोगीलाल से कहा—"क्यों न पहला अंक 'चक्रव्यूह' तक रहे और इस प्रकार नाटक तीन अंकों ही का रहे ?" भोगीलाल ने कहा—"मुझे यह सुझाव बहुत पसन्द है, मैं इसी ख़याल का हूँ—कि 'ड्राप' गिरने वाले सीन में 'ड्रामे' ही का ज़ोर न रहे. 'सीनरी' का भी हो—ट्रांसफ़रसीन हो तो बहुत ही अच्छा;—पर 'सोराबजी शेठ' से कौन कहे ? उन्हें तो 'चार अंकों' ही की धुन है, कई उर्दू नाटकों में भी उन्होंने ऐसा ही किया है।" मैंने कहा—"इस नाटक के सम्बन्ध में तो मैं 'त्रिअंकी' ही के ख़याल का हूँ। 'चक्रव्यूह' के सीन में सब कुछ है। तुम नहीं कह सकते—तो मैं 'सोराबजी शेठ' से सुबह ही कहूँगा।"

दूसरे दिन मैं फिर 'सोराबजी' के सिर हुआ, एक घण्टे की मग़ज़पच्ची के बाद—उन्होंने कहा—'उत्तरा के बाग़ का सीन'—और—चक्रव्यूह का 'सीन'—सीनरी देखते हुए-इतने ग्राण्ड हैं कि उनके बीच में पर्दे पर चलने वाला कोई दृश्य ऐसा नहीं है कि जिसके कारण—बाग़ हटाने और चक्रव्यूह लगाने का 'टाइम' मिल सके।" मैंने कहा—"यह 'उलझन' मैं सुलझाऊँगा; आप 'मंज़ूरी' दे दें।" उन्होंने 'हाँ' कहदी। तब तीसरे पहर मैं और भोगीलाल राय क़ायम करने बैठे। उस समय भी मुझे एक बात सूझी—"पहले अंक में राजाबहादुर(सोराबजी)

का पार्ट 'खटपटसिंह' तक ही चलता है—'ख़ुशामद' के गीत की 'वन्समोरें' उस सीन को वहीं ख़त्म करा देती हैं—क्यों न दूसरे अंक का 'राजाबहादुर' और 'सुन्दरी' का सीन भी उसी में मिला दिया जाय? फिर तो 'टाइम' का सवाल ही ख़त्म होजायगा।" भोगीलाल ने इसे पसंद किया—इस दृष्टि से भी कि 'शेठजी' का सीन बड़ा होजाएगा तो नाटक के पहले अङ्क में और भी 'जान' पड़ेगी—साथ ही शेठजी (सोराबजी) भी इसे पसन्द करेंगे। अगले दिन मैंने 'सोराबजी' से जब ऐसा कहा तो उन्होंने मान लिया; उन्हीं के पार्ट बढ़ने के कारण—उनके मानने ही की वह बात थी, फिर भी इतना कहा कि—"दूसरे अंक में 'सुन्दरी का सिपाही बनने वाला' 'कामिक सीन' जब रहेगा—तब तीसरे अंक में?" मैंने कहा—"उसके लिए मैं और सीन लिख दूँगा।"—तब उन्हीं के मशविरे से मैंने वह 'भूत वाला' सीन कितने ही महीनों बाद उन्हें लिखकर भेज दिया जो उन्हों ने 'चालू' किया। तब तक 'तीसरे अङ्क' में 'कामिक' न रहने का भी उन्हें 'मलाल' नहीं हुआ। 'तीसरे अङ्क' में अगर किसी ऐक्टर का पार्ट न हो तो वह उसे पसन्द ही करता है—क्योंकि जल्दी ही 'मुँह धोकर' उसे स्टेज से छुट्टी मिलती है। दूसरे अङ्क में—'उत्तरा' को 'सङ्केत' करके अभिमन्यु का स्वर्ग से यह कहना कि 'तुम जियो' उन्हों ने नहीं माना। मैं ने यह इस दृष्टि से रक्खा था कि ड्राप वाला वह सीन भी 'ट्रांसफ़र सीन' बने। पर सोराबजी

की उसमें 'मूड' ही थी—और कुछ नहीं। 'ब्याह के बाद पत्तल भी भारी होती है' कहावत के अनुसार अब कौन एक नया 'ट्रांसफ़र सीन' बनवाए!—फिर भी आगे—बरसों बाद—जब मैं 'न्यू अल्फ्रेड' का 'डायरेक्टर' बना हूँ तब मैं ने वह सीन 'चालू' कराया है। 'परीक्षित के राज्याभिषेक' का सीन तो काट ही दिया गया। २-४ गाने भी कटे, कितने ही सीनों को काट काटकर छोटा किया; तब कहीं ४ घण्टे का नाटक बन पाया; वन्समोरों का टाइम बढ़ाकर रात के १॥ बजे नहीं दो ही बजे ख़त्म होता रहा है यह नाटक। ५-६ दिन मुझे 'इस काम' में भी लगे। अगले शनि, रविवार को 'फ़िक्स्ड' नाटक देखकर ही मैं ने 'बरेली' आने का प्रोग्राम बनाया। मेरा कटा हुआ नाटक ११ फ़र्वरी को जिन देहली के ऐसे मित्रों ने देखा—जिन्होंने 'पहली रात' भी देखा था—मुझसे कहा—"चक्रव्यूह पर 'पहला अङ्क' डालना तो ठीक रहा, पर तुमने अन्य सीनों के 'डायलाग' जो काटे—कुछ गाने भी उड़ाए—उनकी 'कसक' जीवन भर हमारे हृदयों में रहेगी, वह सब रहने देते—तभी अच्छा था। भलेही नाटक सुबह का चाँदना होने तक खिलता।"

अगले दिन मैं ने अपने बाक़ी के १००) लिए—'राशन' और 'ट्रावलिंग' की मद के भी—सौ रुपए से ज्यादा-रुपए लिए और चलने की ठानी। रुपए देते समय—प० गौरीशङ्कर मिश्र (मैनेजर) अँगरेजी में एक 'वीर अभिमन्यु' के

सर्वाधिकार' (कापी राइट) का टाइप किया हुआ काग़ज़ भी साथ लाए—और मुझसे दस्तख़त करने को कहा—मैं ने विना कुछ सोचे समझे, तुरन्त दस्तख़त कर दिए। बरेली आकर अपने मित्र 'बाबू छैलबिहारी कपूर' से जब मैं ने यह सब वृत्तान्त कहा—तो कापी राइट के दस्तख़तों वाले काग़ज़ की उन्हों ने मुझ से 'नक़ल' माँगी—मुझ पर कहाँ थी ? मैं उस संसार का जानकार भी न था। छैलबिहारी ने कहा—"अब तुम इस नाटक को 'छाप' भी न सकोगे। सर्वाधिकार उन्हीं को दे आए"। मैं ने कड़क कर कहा—"जब छपाऊँगा—तो उनका दस्तख़त आपके लिखे ड्राफ़्ट पर मँगवा लूँगा। बरेली वाला 'गौरीशङ्कर मिश्र' ब्राह्मण और यू० पी० का होते हुए भी 'मेरा' नहीं है, परन्तु 'सोराबजी ओग्रा' पारसी और बम्बई के होते हुए भी मेरे हैं। जब चाहूँगा—उनसे 'तहरीर' मँगवा लूँगा।" २–३ वर्ष बाद ऐसा हुआ भी; मैं ने जब 'वीर अभिमन्यु' छपवाना चाहा—तो 'सोराबजी शेठ' ने तुरन्त 'माणिकजी शेठ' के दस्तख़तों की 'क़ानूनी तहरीर' भेज दी। पहली बार 'वीर अभिमन्यु' २००० छपा—'लक्ष्मीनारायण प्रेस, मुरादाबाद' में—उसके बाद ५०००, फिर ८००० छपा 'नवलकिशोर प्रेस लखनऊ में'। फिर तो यह छपता और बिकता ही रहा। अबतक क़रीब १ लाख के इसका प्रकाशन हुआ होगा। नाटकों का ज़माना नहीं रहा, फिर भी यह छप रहा है और बिक रहा है। सम्पूर्ण भारत में—ऐसा

कोई भी 'क्लब' नहीं है जहाँ यह 'खिला' न हो। 'तीर्थयात्रा' को जब अपनी धर्मपत्नी कलावती देवी और अपने कनिष्ट पुत्र 'बलराम' सहित मैं 'रामेश्वरम्' गया था—तो 'मद्रास' स्टेशन पर उतरते ही—स्थान स्थान पर मैं ने एक क्लब के 'पोस्टर' देखे--जहाँ मेरे नाम के साथ 'वीर अभिमन्यु' खेले जाने की विज्ञप्ति थी। बँगलौर में तो 'श्रीजम्बूनाथन' नाम के एक ऐसे प्रोफ़ेसर मिले--जो इस नाटक के बड़े भक्त थे। इसका कामिक भाग भी उन्हों ने अलग खेला--मुझसे आज्ञा लेकर 'बहादुर सुन्दरी' के नाम से उसे छपाया भी। कलकत्ते के 'मैडन थिएटर' ने 'जौहरजी' से इसी को सामने रखकर 'देश का लाल' नामक नाटक लिखाकर खेला। 'आग़ाहश्र' वहाँ मेरी ओर से लड़े--और विज्ञप्ति में पण्डित राधेश्याम जी और उनके 'वीर अभिमन्यु' की बात छपवाकर उसका 'आभार' छपवाया। 'पंजाब यूनिवर्सिटी' में यह नाटक 'एफ़० ए०' के कोर्स तक में रहा। 'पारसी स्टेज' पर खिलने वाले नाटकों में--केवल इसी एक नाटक को 'कोर्स' में जाने का 'मर्तबा' प्राप्त हुआ। यू० पी० में भी स्कूलों में पारितोषिक में दिए जाने और लाइब्रेरियों के लिए यह चुना गया। 'राधेश्याम प्रेस' के यशस्वी मैनेजर--प० रामनारायण पाठक (बरेली के होने पर भी) बम्बई के 'दैनिक श्रीवेंकटेश्वर समाचार' के सहकारी सम्पादक रहे हैं--इन्हों ने वहाँ सन् १९१७ के अन्त में जब 'न्यू अल्फ़्रेड' के स्टेज पर

'वीर अभिमन्यु' देखा तो 'दैनिक वेंकटेश्वर' में एक कालम से भी ज़्यादा जगह में एक 'लेख' सा लिखकर--इस नाटक की 'भूरि भूरि' प्रशंसा की। मैं तब 'श्रीरामनारायण पाठक' को जानता भी नहीं था। अगले साल सन् १९१८ में जब यह बरेली आए--तब मैं ने इन्हें 'राधेश्याम पुस्तकालय' का 'मैनेजर' बना कर--'बरेली से बाहर' नहीं जाने दिया। तब से आज तक इनकी मैनेजरी क़ायम है। 'राधेश्याम प्रेस' की उन्नति का श्रेय इन्हें भी प्राप्त है। निश्चय ही, पाठक जी ईमानदार, सच्चरित्र और पण्डित हैं। मैं ने इन्हें सदा 'अनुज' सा माना है। और आज भी मानता हूँ :—

जिसे हम मान लें अपना—वो अपना हो ही जाता है।
जगत का सारा नाता, मानने ही का तो नाता है?

बरेली से नजदीक ही—एक शहर है, उसमें एक 'प्रिंटिंग प्रेस' है, उसके मालिक ने तो ग़ज़ब कर दिया—'राधेश्याम प्रेस' ही के नाम से, मेरे ही फ़ोटो, दस्तख़त ज्यों के त्यों बनवाकर, टाइप ज्यों का त्यों लगाकर, २००० 'वीर अभिमन्यु' छपा डाला। अकस्मात् मेरे पुत्र बलराम को जब यह मालूम हुआ; तो थोड़ी ही बातचीत के बाद, उस प्रेस के मालिक ने 'क्षमा' माँगी और पूरी २००० किताबें हमारे यहाँ भेज दीं।

सन् १९४७ में मेरे ज्येष्ठ पुत्र 'घनश्याम' का जब देहावसान हुआ था—तब बरेली के—उस साल के—'कोतवाल साहब' ने

मेरे घर आकर—मुझे सान्त्वना देते हुए—'श्रीकृष्ण-सुभद्रा—सम्वाद' पूरा का पूरा मुझे सुनाया; फिर कहा—"आप ही ने ऐसा लिखा है—अब आपको हम धैर्य दिलाने की बात क्या कहें ?" मैं ने तब समझा—"लोगों को कण्ठस्थ हैं मेरे 'वीर अभिमन्यु' के सीन।" 'वीर अभिमन्यु' छपने पर पाठकजी ने सभी हिन्दी पत्रों को 'आलोचना के लिए' उसे भेजा। मैं तब तक 'हिन्दी के लेखकों, सम्पादकों से मिला ही न था। देखता हूँ—सभी ने 'अच्छी आलोचना' की, वे सब 'पत्र' अब नहीं मिल रहे हैं। कुछ मिल रहे हैं, उन के 'कुछ वाक्य' यहाँ दे रहा हूँ। आचार्य द्विवेदीजी (सरस्वती-सम्पादक महावीर प्रसाद) के सम्बन्ध में एक शब्द जरूर लिखूँगा। उन्हों ने जब सरस्वती में अपनी लेखनी से 'वीर अभिमन्यु' को 'अच्छा' लिखा—तब तो मैं फूला नहीं समाया। उसके बाद पहली बार उनके दर्शन को 'जुही' (कानपुर) गया। तब से जीवनभर-समय-समय पर-उनके आशीर्वाद मुझे मिलते रहे हैं।

कुछ प्रसिद्ध पत्रों की उस समय की आलोचनाएँ यह थीं—

सरस्वती—नाटक में वीर और करुणा-रस का प्राधान्य है। 'भाव' बड़े सुन्दर हैं।

विजय—नाटक के पात्र आदर्श हैं। कविता रसीली और मधुर है।

भारत मित्र—'वीर अभिमन्यु' हिन्दू आदर्श को सामने उपस्थित करने वाला नाटक है।

ब्रह्मचारी—रोचकता और रस-परिपोष का तो यह हाल है कि पढ़ते पढ़ते बीच में छोड़ देना किसी विरले ही पुरुष-पुङ्गव का काम होगा।

आज—अपने पुरखों के गौरव तथा कर्तव्य-परायणता का चित्र उचित रीति से खींचा गया है।

सनातनधर्म-पताका—इसके पुरातन भाव और नई पद्य-रचना से हिन्दी साहित्य के प्रेमियों को अवश्य ही यथेष्ट लाभ पहुँचेगा।

प्रताप—स्टेज पर सफलता-पूर्वक खेला जा चुका है। हम लेखक को बधाई देते हैं।

प्रतिभा—नाटक बहुत अच्छा है। बड़ी सफलता से खेला जाता है।

अब एक बड़ी बात लिखता हूँ—दैवयोग से—२५ सितम्बर सन् १९१७ को मेरे 'छप्पर खपड़ैल वाले मकान' से पूरब वाला वह 'राजा चित्रकूट का महल वाला मकान' मैं ने ख़रीद लिया। ख़रीद कर उसे बनवाना शुरू कर दिया। 'राधेश्याम प्रेस' उस में स्थापित किया—जो आज तक चल रहा है। अपने उस छप्पर और खपड़ैल वाले मकान को—जो उस 'महल' से पश्चिम था—बनवाकर उसमें 'राधेश्याम पुस्तकालय' खोला, जो अब तक वहीं है। १-२ वर्ष बाद 'न्यू अल्फ्रेड' फिर बरेली आई तो उसे 'एक बँगले में' ठहरना पड़ा। भोगीलाल अपनी धर्मपत्नी—सहित आए थे—उन्हों

ने इसी मकान के एक हिस्से में 'रहना' पसन्द किया और रहे। इस 'महल वाले' मकान में मैं ने एक दिन 'सोराबजी शेठ' को 'चाय' पर बुलाया। वे आए और मुझे 'मुबारकबादी' दी कि इस मकान को मैं ने ख़रीदा। मैं ने कहा— "न्यू अल्बर्ट भी इसी मकान में ठहरी थी, 'न्यू अल्फ्रेड' भी कई बार यहीं ठहरी है। यहाँ की 'नाटकीय ध्वनियाँ' मेरे पछाँव वाले 'कच्चे मकान' में बराबर क्यों जाती थीं?— मुझे 'नाटक' में क्यों खींच रही थीं? वह 'संस्कार' था,'विधाता का विधान' था,—या क्या था?" शेठजी ने कहा– "तुमने जब उस 'भगवान की मर्ज़ी' से—पारसी स्टेज पर--हिन्दी में-- महाभारतकाल के चरित्रों को अच्छे रूप में--पहुँचाया— तो शायद उस मालिक को तुम्हारी 'नौकरी' ठीक जची और पुरस्कार में उसने यही मकान तुम्हें दे दिया, देशव्यापी नाटककार की पदवी भी दे दी। और वह भी 'एक ही नाटक से'। इतना उदार है वह प्रभु।"

'सोराबजी' के इन विचारों का मुझ पर अच्छा प्रभाव पड़ा। मैं ने फिर कहना शुरू किया—"आज आपको याद दिला रहा हूँ—अपनी ६-७ वर्ष की आयु में भी—इसी मकान में जब आपकी कम्पनी थी—अपने पिता जी के साथ मैं आया था, कम्पनी में 'नाचने गाने' के लिए दाख़िल होने को!" सोराबजी सोचने लगे—फिर याद आते ही उनके मुँह से निकला--'ऐं!'। मैं कहता ही रहा—"उस समय तो

'नाचने गाने' वालों में 'भरती' नहीं हुआ; पर अब नाटककार के रूप में 'कम्पनी' का एक अंग बन गया— इसे भी मैं 'दैवी संयोग' ही कहता हूँ—निश्चय ही यह 'भगवान् ही का खेल' है।—इस छोटी सी कामारथी गली में— एक ग़रीब ब्राह्मण का बेटा—मामूली सी उर्दू और हिन्दी पढ़ा हुआ—'भारत प्रसिद्ध कथावाचक और नाटककार बन जाए ?'—यही तो 'भगवान् का दर्शन' है"—सोराबजी गद्गद् हो चले थे। थोड़ी देर बाद बोले—"मैं भी इसी ख़याल का हूँ; और कम्पनी के हर काग़ज़ या किताब पर पहले 'बनामे ख़ुदा' लिखवाता हूँ। (यानी ख़ुदा के नाम पर)।

अब मैं फिर पीछे लौटता हूँ—और ४ फ़र्वरी सन् १६ के बाद से—सिलसिलेवार लिखता हूँ।

'वीर अभिमन्यु' की सफलता ने 'हिन्दी लेखकों' को जगा सा दिया। सैकड़ों 'कवियों' को इस मार्ग पर चलने के लिए उत्साहित कर दिया। मैं ने देखा—'कम्पनी' में अपना अपना नाटक लेकर नए नए 'राइटर' नित्य ही आरहे हैं। पंजाबियों की अधिकता पहले हुई—फिर दिल्ली-मेरठ वालों की, फिर प्रयाग और काशी वासियों की।

मेरठ में मेरे एक मित्र थे, मेरठ के रईसों में भी वे 'सर्वप्रिय' थे, ख़ूब गाते थे, ठुमरियाँ और ग़ज़लें भी अच्छी

बनाते थे, जीविका उनकी मास्टरी की थी, देवनागरी हाई स्कूल में ड्राइंग के मास्टर थे। मनचले भी थे—और देशभक्त भी। नाम था—लाला विश्वम्भर सहाय 'व्याकुल'। अचानक एक दिन बरेली—मेरे ग़रीबख़ाने पर—हाथ में एक 'झोला' लिए आ गए। मैं ने 'स्वागत' के पश्चात् पूछा—'कैसे ?' तो बोले—"तुम्हारा 'वीर अभिमन्यु' देखकर मैंने भी इरादा किया कि अब मैं भी 'नाटक' लिखूँगा। सब्जैक्ट 'बुद्धदेव' भाया; कुछ समय से 'भगवान् बुद्ध की जीवनी' ने मेरे दैनिक जीवन पर भी अपना 'प्रभाव' डाल रक्खा है। जैसे तैसे पहला अङ्क बन गया, बनने के बाद सोचा—'किसे सुनाऊँ ?' 'सर्वश्रेष्ठ श्रोता' तुम्हीं जँचे; इसी लिए इस 'झोले' में उसे लेकर आया हूँ।"—भोजनोपरान्त, शयनोपरान्त शाम के ३ बजे से ७ बजे तक हम दोनों उसी 'नाटक' में लीन रहे। नाटक की शुरूआत अच्छी थी, भाषा भी उपयुक्त थी, भाव भी सुन्दर थे। 'व्याकुलजी' के विशेष आग्रह पर—'कथानक' और 'स्टेज' की दृष्टि से—सीनों में—कहीं कहीं फेरफार के सुझाव मैं ने उन्हें दिए।

'व्याकुल जी' रात की गाड़ी से जब 'मेरठ' चले गए तो मैंने सोचा—"यह मेरठ से सीधे मेरे ही पास अपना 'प्रथमाङ्क' लेकर—क्यों आए ? सम्भव है मुझे बीच में डालकर यह अपना 'भगवान् बुद्ध'—'न्यू अल्फ्रेड' में खिलवाना चाहें।—देखा जायगा।" मेरे ऐसे विचार—कथावाचकी में भ्रमण करने

के कारण, और नाटक कम्पनी के वातावरण में इतने दिन रहने के कारण बने थे;—परिस्थितियाँ ही तो मनुष्य को बनाया करती हैं (A man is a creature of circumstances) अन्यथा इस से पहले तो मैं सीधी बात कहने और सुनने ही का 'व्यक्ति' था। पर मेरी यह 'कल्पना' तब निर्मूल हो गई—जब दुबारा भी—१-२ मास के पश्चात्—'व्याकुलजी' अपना 'दूसरा अङ्क' सुनाने—उसी प्रकार आए। तब बातचीत में उन्होंने कहा—"अपनी ही कम्पनी में, अपने ही डायरेक्शन में—अपनी ही पसन्द के सामान वाले स्टेज पर—अपने इस नाटक को खिलवाने की योजना में हूँ।" आखिर हुआ भी यही, मेरठ के रईस आपके भक्त थे ही;—'व्याकुल भारत' नाम की कम्पनी बनी, लिमिटेड। खूब खर्च के बाद, देहली में हकीम अजमलखाँ से—प्रारम्भिक उद्घाटन करा के बनारसी कृष्णा थिएटर (आजकल के 'मोती टाकी') में 'भगवान् बुद्ध' खिला और खूब पास हुआ। बुलावा तो मुझे भी पहले दिन का था—पर मैंने चन्द दिन बाद जाकर देखा। निश्चय ही 'चुन्नीलाल नायक' के 'बुद्ध के पार्ट' ने मुझे बहुत ही प्रभावित किया।

'व्याकुलजी' ने मुझ से कहा—'अब इस कम्पनी में दूसरा नाटक आपका खिलेगा'। मैं ने कहा—'कौनसा नाटक?' थोड़ी लौटपलट के बाद—'प्रह्लाद' निश्चित हुआ। मैंने उसे 'बनाने' की दिलचस्पी उसी दिन से ली। यह मेरी बड़ी 'प्यार की चीज़' बन रही थी। बरेली के मेरे मित्र—'बाबू

छैलबिहारी कपूर ऐडवोकेट, (वीर अभिमन्यु की भूमिका लेखक) बाबू जियाराम सक्सेना ऐडवोकेट, ('श्रवणकुमार' की भूमिका—लेखक) बाबू द्वारकाप्रसाद ऐडवोकेट, और बाबू जयनारायण चौधरी, वकील,—सभी तो इसके 'एक एक सीन' पसन्द करते थे। एक रात की बात है - बारह बजे होंगे—मैं शैया पर लेट चुका था—अचानक बाबू जयनारायण चौधरी आए—और मुझ से कहा—तुमने 'प्रह्लाद' का अगला सीन लिख लिया है, सुनाओ, उसी को सुनने आया हूँ"-मैंने कहा- 'इस समय ?" वे बोले—"सूर्योदय से रात के १० बजे तक तो मुझे 'फ़ुर्सत' ही नहीं मिलती है आजकल"। आखिर मुझे सुनाना पड़ा।

वास्तव में 'प्रह्लाद' का पहला सीन 'कुम्हारी वाला' ही मैं ने भाषा, भाव, चरित्रचित्रण और स्टेज की दृष्टि से ऐसा लिखा था कि 'आज भी वह मेरे प्यार की वस्तु' है। एक गृहस्थ योगिराज (बाबू सूरजबली) तो—मेरे एक मित्र के साथ—मेरी बैठक में आकर—इसे सुनकर—इतने प्रसन्न हुए कि मुझे 'योग' की कुछ बातें सिखाईं, आशीर्वाद दिए; 'गुरुभाव' से भी उन (पोस्ट आफ़िस के रिटायर्ड 'डिप्टी साहब') को मैंने माना है।

'कुम्हारी वाले' सीन में—कुम्हारी को भावुक हरिभक्ता के रूप में स्टेज पर लाया गया है, धीरे धीरे उसकी वह 'भावुकता' और बढ़ी—'चमत्कार' देखकर तो इतनी बढ़ी कि वह 'आपा'

भूल गई। फिर आगे ? आगे मैं ने उसका 'हार्टफ़ेल' कराके ही वह सीन ख़त्म किया है। 'आपा' भूलकर 'परमात्मा के बहुत ही नज़दीक़ पहुँच जाने पर' उसका 'हार्ट फ़ेल' कराना ही 'चरित्र चित्रण' की सीमा है,—इसे तब से आजतक—सभी ने सराहा है। इसी तरह 'पति और पुत्र'—दो विरोधी शक्तियों के बीच में 'श्यामलता' के 'कैरेक्टर' को भी समझदारों ने ख़ूब पसन्द किया है।

अब फिर 'व्याकुल भारत' में आइए। मुरादाबाद की नुमाइश में 'व्याकुल भारत' जब अपना 'बुद्ध' खेल रही थी—तब मैं 'प्रह्लाद' लेकर वहाँ गया। वहाँ जाते ही तो मैंने रंग बड़ा बदला हुआ सा पाया। 'व्याकुल साहब' तो सख़्त बीमार होकर कम्पनी छोड़ चुके थे; और मेरठ में पड़े थे। कम्पनी में शेयर होल्डर्स की ओर से एक सज्जन 'श्री प्यारेलाल' मैनेजर थे,—'स्टेज के डायरेक्टर'—'अली अतहर साहब' थे। मैं ने इस 'वातावरण' में 'प्रह्लाद' का सुनाना मुल्तवी करके 'मेरठ' का टिकट लिया और अपने बीमार मित्र 'व्याकुल' की शैया के पास उस दिन मैं २-३ घण्टे तक बैठा रहा। जिन बातों को मैं जानता था—वही 'व्याकुल जी' ने अब जानीं। उन बातों का ख़ुलासा यह है—

"नाटक कम्पनी बनाने में ख़र्च ख़ूब होता है; 'ख़र्च' करके भी—अच्छा नाटक खिलवाकर भी—ऐक्टरों की

रोज़ की सतानेवाली हर्कतों को सहते रहना—बड़ा कठिन है। हम उन्हें सिखाते हैं--स्टेज पर उनको अच्छा पार्ट दे देकर 'पब्लिक' में लाते हैं—वही जब 'शोहरत' हासिल कर लेते हैं—तब कम्पनी छोड़ने की बात कहा करते हैं। हर महीने तनख्वाह बढ़ाने की बात—किसी न किसी प्रकार सामने रखते हैं। नहीं तो रात को 'सिरदर्द' या 'पेटदर्द' का नखरा करके 'पार्ट' नहीं करना चाहते हैं।"

व्याकुलजी ने कहा—"मुझे तो ऐसे एक ऐक्टर के पाँव में—खेल शुरू होने के पहले—अपनी 'टोपी' रखनी पड़ी है। फिर यही ऐक्टर कम्पनी के नियमों को तोड़कर उच्छृखंल होते हैं, दुराचार के मार्ग पर भी—बेशर्मी के साथ चल पड़ते हैं।" अच्छा—तनख्वाह भी कितनी बढ़ाई जाय? 'न्यू अल्फ्रेड' ही में—मेरे देखते देखते एक ऐक्टर ३०) मासिक पर नौकर हुआ—और ५५०) मासिक पर पहुँचकर भी—उसका मुँह 'सूजा' रहता था। यह तो मानी हुई बात है कि 'अनाप शनाप' खर्च बढ़ने पर 'कम्पनी' नहीं चलेगी, बन्द हो जायगी। ऐसा ही प्रायः होता रहा है। न्यू अल्फ्रेड में तो 'ऐग्रीमेंट'—सिस्टम भी था—पर वह तो 'शरीफों' के लिए है—'बदमाश ऐक्टरों' के लिए नहीं। कम्पनी कहीं बात बात पर—'मुकदमेबाज़ी' थोड़े ही करती है—उसे तो धन्धा (रोज़गार) करना है,—धन्धेवाले (रोज़गारी) अदालतों में बहुत कम जाया करते हैं।

व्याकुल जी ने फिर कहा—"शेयर होल्डर्स के भी झगड़े उठे, कम्पनी में 'प्रमुखता' भी सभी चाहते थे; यह भी चक्कर आखिर चला, प्रबन्ध करते करते मैं बीमार पड़ा और 'कम्पनी' छोड़कर चला आया।"

एक दोहा भी उन्होंने सुनाया—

"ऐसे धूर्त्त मुहूर्त्त में—'व्याकुल' राख्यो नाम—
व्याकुलहू व्याकुल भयो—बिगड़ो सारो काम ॥"

मैंने व्याकुल साहब से 'प्रह्लाद'—'न्यू अल्फ्रेड' को दे देने की राय ली—जो उन्होंने सहर्ष दी—और मेरी वह लम्बी बातचीत जैसे ही खत्म हुई—मैं रेल पर आगया—और—बरेली का टिकट लिया।

बीमार 'व्याकुल जी' से कुछ समय बाद—मैं फिर भी मिला था, उनकी 'ज़ुबान' में एक ऐसा 'रोग' होगया था-जो बोलने में कठिनाई पैदा करता था;—रोग तो 'सोराबजी' को भी 'अन्तिम काल' में यही हुआ था। इसको उर्दू में 'सरतान' कहते हैं। 'व्याकुलजी' ने अपनी 'अन्तिम कविता' तब मुझे लिखकर दी थी—जिसमें 'भाव' यह था - 'महाजन रूपी भगवान् से वे-क़र्ज़दार के रूप में कह रहे थे—सब क़र्ज़ा सूद, दर सूद सहित अभी चुकता कर लो।—'कभी तो निकलेंगे यह प्रान ?' शुरू के बोल थे;—'वाह वा, बलिहारी भगवान, बनाया जिह्वा में 'सरतान'।

'व्याकुलभारत कम्पनी' आखिर 'लिक्विडेशन' में गई, उसके तीन ड्रामों को, कापीराइट'—सहित, मैंने 'लिक्वीडेटर' से खरीदा—अपने प्रेस के लिए। दो तो प्रकाशित होगए-'तेग़े सितम' और 'चन्द्रगुप्त'। 'भगवान् बुद्ध' प्रकाशित न कर सका,—व्याकुलजी' के सुपुत्र ने बरेली आकर और मुझसे बहुत कुछ कह सुनकर-रुकवा दिया। उनका 'ज़बानी' कहना था कि व्याकुल भारत कम्पनी-'बुद्धदेव' के 'स्टेजिंग राइट' की मालिक थी—'कापीराइट' की नहीं। मैं मन में हँसा भी था—'कापीराइट ही तो बिकता है—क़ानून में 'स्टेजिंग राइट' उसी के भीतर है। पर मुझे तो अपने मित्र के पुत्र से लड़ना नहीं था। फिर 'मुक़दमेदारी' से तो प्रत्येक 'व्यवसायी' बचता है। 'लाचारी' ही उसे 'कचहरी' ले जाती है।

कुछ समय बाद मैंने सुना कि 'श्रीमाँगलिकजी' ने उसे छपवाया है, देख तो मैं सका नहीं हूँ, यह भी नहीं मालूम कि उसका दूसरा संस्करण हुआ या नहीं'—'राधेश्याम प्रेस' से छपता तो सम्भव है 'कई संस्करण' अब तक निकल जाते।—जो-हो कम्पनी की हस्तलिखित कापी (व्याकुलजी की यादगार) अबतक मेरे पास है।

हिन्दी के 'धार्मिक नाटकों' का युग शुरू हो ही चुका था—'काठियावाड़' से एक ब्राह्मणों की कम्पनी 'सूरविजय नाटक समाज' दिल्ली आई। उसके मालिक थे श्रीदुर्लभ रामजी रावल और श्रीलवजी त्रिवेदी।

'लवजी भाई' बम्बई में गुजराती के विल्वमंगल में 'सूरदास' का पार्ट करके बड़ी ख्याति प्राप्त कर चुके थे—उन्होंने गुजराती ही के लेखक—'श्रीनाथूरामजी सुन्दर शुक्ल' से उन्हीं की हिन्दी में 'सूरदास' तैयार किया कराया। फिर अपनी कम्पनी बनाकर दिल्ली आगए। इस कम्पनी की सीनरी बड़ी शानदार थी—दोनों मालिक और मैनेजर (हिम्मतराम) तथा डायरेक्टर (भगवान्जी) सब बड़े मिलनसार थे—मैंने तब दिल्ली ही में (लक्ष्मीनारायण की धर्मशाला में) कथा शुरू की थी। कथा के पहले ही दिन (शायद वह कम्पनी के तमाशे की छुट्टी का दिन था) यह सबके सब 'सूर विजय' वाले -कथा सुनने आए—और मुझसे प्रेम ही का नहीं--ब्राह्मणपन का भी नाता जोड़ा। अगली ही रात को मैंने उनका 'सूरदास' देखा; निश्चय ही लवजी का 'सूरदास' का पार्ट लाजवाब था, तीसरे अंक में जब वे अन्धे बनकर यह गाते हुए आए—'सेवक की सुधि लीजो रे, श्याम सलोने'। तब तो मैं रो पड़ा। उसी सीन में उनका दूसरा गाना भी—'हां रे रँग जो लागा—सो लागा,—काहे सोवै फिर—जो जागा' भी उत्तम था। यह सीन मैंने बार बार जा जा कर देखा है। तीसरे अंक का सीन होने के कारण—मुझे रात के १ बजे जाना पड़ता था, पर जाता था। कम्पनी के मालिकान के आग्रह से मैंने--निःशुल्क उनके 'सूरदास' की भाषा कुछ सँभाली, गानों के बोल भी सँभाले। 'सूरविजय' कम्पनी

'संगम थिएटर' ही में (जहाँ 'वीर अभिमन्यु' खिला था) अपने खेल खेलती थी। उसी के सामने—दूसरी सड़क पर बनारसी कृष्णा में जहाँ अब 'मोती टाकीज़' है—'न्यू अल्फ़्रेड' आगई, उसने चाहा—अपने खेलों से 'सूर विजय' को गिरादे, पर 'सूरदास' के कारण 'सूरविजय' भी चलती ही रही।

एक दिन अपने एक मित्र—'मदनमोहन वकील' के साथ अपने ही 'वीर अभिमन्यु' में रात के ९॥ बजे—'बनारसी कृष्णा थिएटर' (न्यू अल्फ़्रेड) में मैं जब पहुँचा—तो मेरे मित्र के साथ मुझे (कम्पनी के मैनेजर ने) बाजे वाले के पीछे वाले, 'सोफ़े' पर बिठा दिया। आधा घण्टे के बाद उसी मैनेजर ने आकर कहा—"यह रिज़र्व है—इससे पीछे वाले पर बैठ जाइए।" मुझे प्रबन्ध की यह त्रुटि बुरी लगी। मैं मित्र के साथ उठकर 'संगम थिएटर'—सूर विजय—में आगया। मेरा सदा से यह स्वभाव रहा है कि अपना 'अपमान' सहन कर सकता हूँ, अपने पर पड़ा दुःख भी सह लेता हूँ, पर अपने साथी—अपने प्रेमी—अपने मित्र पर ऐसा कोई अवसर आए—तो तिलमिला उठता हूँ; उस समय 'अनापशनाप' क़दम भी उठाने की सोचने लगता हूँ। यही कारण था कि मैं 'न्यू अल्फ़्रेड' छोड़कर 'सूरविजय' में—अपने मित्र के साथ आगया। 'सूरविजय' के मैनेजर ने—उसी फ़र्स्ट सोफ़े पर—बिठाया ही नहीं—'पान'—'पानी' का भी यथेष्ट सत्कार किया। अगले ही सवेरे जब 'सूरविजय' के मालिक

मुझसे मिलने आए—तो मैंने उनके आग्रह पर 'श्रवणकुमार' उनके लिए लिखना स्वीकार कर लिया। १७-१८-दिन ही में-दिन रात 'जुटकर' मैंने उसे पूरा कर दिया। प्रत्येक सीन जो तैयार होता था-कम्पनी के मालिक उसे 'रिहर्सल' में बाँट देते थे,—उसकी सीनरी, ड्रेसें भी ठीक कराते थे, इस तरह जल्दी ही में—उसके सब गाने (तर्जें आदि) भी बने-और 'न्यू अल्फ्रेड' के रहते हुए ही उसको 'खेलने' की तारीख़ निश्चित हुई, पब्लिसिटी हुई। इतने दिनों तक—मैं किसी दिन भी 'न्यू-अल्फ्रेड' में नहीं गया था। एक दिन 'भोगीलाल' मेरे पास आए-कम्पनी में न आने का कारण पूछा, मैंने उनसे मैनेजर के 'कुप्रबन्ध' की बात कही—उन्होंने 'सोराबजी' से वही बात कही; सोराबजी को बहुत दुःख हुआ—उन्होंने उस मैनेजर को 'कार्यवञ्चित' कर दिया—और स्वयं मुझसे मिलने, समझाने तथा खेद प्रकट करने आए। मैंने उनसे कहा-'कल मेरा 'श्रवणकुमार' 'संगम थिएटर' (सूरविजय नाटक समाज) में है। उसे अवश्य देखने आइए।

'सोराबजी' ने स्वीकार कर लिया और 'न्यू अल्फ्रेड' में उस दिन ऐसा कोई 'उर्दू खेल' रख दिया—जिसमें उनका और 'भोगीलाल' का पार्ट नहीं था। दोनों ही निश्चित समय 'श्रवणकुमार' देखने आए—मैंने भी—उसी फ़र्स्ट सोफ़े

को उनके लिए 'रिज़र्व' करा रक्खा था जो हार्मोनियम मास्टर के पीछे था। कम्पनी के मालिकों ने भी चाय, फूलमाला आदि से उनका उचित स्वागत किया। खेल देखते देखते २–३ जगह पर सोराबजी पुलकित होगए; अन्त में खेल की ख़ूब प्रशंसा करके उन्होंने मुझसे कहा—"अफ़्सोस! यह मेरे डायरेक्शन में न निकला!"—बात उनकी सही थी, उनसा डायरेक्टर हम में से कोई न था;—फिर कितनी जल्दी हमने खेल निकाला; यह भी बात थी।—पहले ही ड्रॉप पर–'श्रवणकुमार' बने हुए 'लवजी' ने जब गाया—'काँधे ये मात पिता की–काँवर उठाई'—तब तो मैं भी गद्गद् था। 'लवजी' के इस अगले गाने को तो जनता ने भी साथ साथ गाया–कई 'वन्समोरें' हुई—"अगर इस खाल के जूते बनें तो खाल हाज़िर है"। तीसरे अंक में 'श्रवण कुमार की मृत्यु' का दृश्य मूर्तिमान 'करुणा' था।—ख़ूब ही चला यह नाटक दिल्ली में। 'न्यू अल्फ़्रेड' दब गई, एक रात तो ५०) का हाऊस था उस कम्पनी का। सोराबजी ने जिस मैनेजर को 'कार्यवञ्चित' कर रक्खा था–मैंने उसके 'क्षमा माँगने' पर उसे फिर 'बहाल' करा दिया और सोराबजी से कहा–"नाटकवालों की संगति ने मुझे 'तुनकमिज़ाज'—और अभिमानी बना दिया,–जी चाहता है—मैं इस लाइन को छोड़ दूँ—मेरी 'कथा' अच्छी।" सोराबजी ने कहा—"वीर अभिमन्यु और श्रवणकुमार लिखकर ही 'तृप्त' हो गए?

यह तो धार्मिक नाटक हैं, कथावाचक के लिए ऐसे नाटक लिख देना कोई कठिन काम नहीं,—'सामाजिक नाटक लिखकर नाम कमाओ' तब हम जानें और मानें।" असल में तो 'सोराबजी' का यह एक बढ़ावा था—पर मुझमें तो 'शान' का माद्दा पैदा हो चुका था—एक चोट सी लगी—और उसके बाद ही मैंने 'परिवर्तन' लिखना शुरू किया,—ज़रूर मुश्किल पड़ी—दिन भी काफ़ी लगे—पर लिखा तो गया मेरी पसन्द ही का 'परिवर्तन'। अगले वर्ष बम्बई में जब 'न्यू अल्फ़्रेड' थी तो मैंने वहाँ जाकर 'परिवर्तन' सोराबजी को सुनाया—उनके रहने ही की जगह--सोलहकोटी बिल्डिंग ग्राण्ट रोड में।

सोराबजी को 'परिवर्तन' पसन्द आया—कहा—'निश्चय ही उत्तम है, अब तुम होगए नाटककार'। यह कहकर उन्होंने मेरी 'ओरीजनल कापी' मुझसे लेली—और मेरे सामने ही—अपने बक्स में उसे रखकर—ताला दे दिया। मैं उस समय तो न समझा कि उन्होंने ऐसा क्यों किया;—बाद में समझा कि किसी और कम्पनी में यह न पहुँच जाय—इसीलिए उन्होंने ऐसा किया। उस समय तो केवल इतना ही कहा—'इसके अन्तिम सीन पर ग़ौर करना है—जहाँ तुमने 'बायस्कोप' रक्खा है।

उन दिनों 'न्यू अल्फ़्रेड' में 'चलता पुर्ज़ा' की 'रिहर्सल' चल रही थी। किसी 'गुजराती उपन्यास' से इसका प्लाट

भोगीलाल ने बनाया था, चूँकि उसमें मुख्य पार्ट सोराबजी (सिकन्दर का था—इसलिए सोराबजी ने भी उसमें खूब दिलचस्पी ली, 'मुंशी अहसन' ही से (जो कई कारण से वैतनिक रूप में न्यू अल्फ्रेड में अर्से से खाली से थे) लिखाया था। मैंने भी जब यह नाटक देखा तो 'सोराबजी के डायरेक्शन' ही को नहीं माना, सोराबजी को भी भारत का 'सर्वश्रेष्ठ नट' माना। मैंने स्टेज पर कितने ही नामी नटों के पार्ट देखे हैं—उनसे प्रभावित भी हुआ हूँ,—जैसे 'महाभारत' में 'दुर्योधन' बने हुए 'कावसजी खटाऊ', 'भगवान् बुद्ध' में 'बुद्ध' बने हुए 'चुन्नीलाल नायक', 'रायल नाटक मण्डली' के गुजराती नाटकों में 'सोरावजी कात्रिक' एवं 'पुरुषोत्तम', –पारसी कम्पनी में 'गौहर'। आगे फिर मैडन के 'आँख के नशा' में 'शरीफ़ा'; बँगला स्टेज पर—'शिशिर कुमार भादुड़ी', मराठी कम्पनी में 'बाल गन्धर्व', और अपनी 'सूरविजय' में 'लवजी'—पर मेरे दिल का सच्चा फ़ैसला तो यही है कि 'सोराबजी ओग्रा' सर्वश्रेष्ठ नट थे।

दिल्ली लौटकर मैंने देखा—'संगम थिएटर' में—'सूर-विजय' अब भी है। मानो दिल्ली को उसने अपना 'प्रधान स्टेशन' बना लिया हो। उसके मालिकों के प्रेम और आग्रह से मैं १०-१२ दिन उन्हीं के पास थिएटर में रहा—और तब मैंने उन्हें 'बालकृष्ण' बना कर दिया। उन्हीं दिनों मैंने उनसे कहा—'तुम अपने यहाँ पर स्थायी

'नाटकलेखक' रक्खो—मैं उसके लिखे नाटकों का संशोधन, सम्पादन कर दिया करूँगा। तब मैं ऐसी ही तबीयत का बन रहा था, मुझे नाटक तो प्रिय थे—पर—थोड़े से सज्जनों को छोड़कर—नाटकवाले प्रिय नहीं थे। आख़िर 'सूर विजय' ने पंजाब के मुंशी 'किशनचन्द ज़ेबा' को रक्खा। क्रमशः उनके 'सीता वनवास'—'गंगावतरण'—'महात्मा विदुर' आदि नाटक मैंने 'संशोधित-सम्पादित' किए हैं।

मेरे एक श्रद्धास्पद व्याख्यानदाता थे-काशीपुर के पण्डित दुर्गादत्त पन्त। हरिद्वार के 'ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम' और 'ऋषिकुल आयुर्वैदिक कालिज' के आप संस्थापक थे। मैंने उन संस्थाओं के संस्थापन में 'श्रीपन्त जी के साथ' अपना भी पूरा समय दिया है। उसके बाद भी-बरसों मैंने वहाँ की सेवा की है—कुछ दिनों 'प्रधान' भी रहा हूँ। मैं ने जब उसे छोड़ा है---तो मेरे पुत्र 'बलराम शर्मा' ने ४-५ वर्ष 'प्रधान' रह कर दोनों संस्थाओं की सेवा की है। अपने ज्येष्ठ भ्राता (घनश्याम) के देहावसान के कारण 'बलराम' को वह सेवा छोड़नी पड़ी-और 'राधेश्याम प्रेस' सँभालना पड़ा है।

उन्हीं 'दुर्गादत्तजी पन्त' में भी 'नाटक' लिखने का उत्साह पैदा होगया, 'ऊषा अनिरुद्ध' लिखकर मुझे दिखाने आए। 'भाव' तो कहीं कहीं अवश्य अच्छे थे पर 'नाटकत्व' का तो 'अभाव' होना ही चाहिए था—वह उनकी 'लाइन' ही नहीं थी

तब मैंने अपने अनुज 'मदनमोहनलाल' और 'राधेश्याम प्रेस' से निकलने वाले 'भ्रमर' (मासिक पत्र) के सम्पादक अपने परमप्रिय 'सतीशकुमार' को पास बिठलाकर—नए सिरे से 'ऊषा अनिरुद्ध' लिखना शुरू किया—वे दोनों नवयुवक इस प्रकार सीख गए कुछ 'नाटक की बात'। अचानक 'सूरविजय' बरेली आगई—फिर क्या देर थी ? चन्द ही दिनों में उसकी तैयारी हो गई—और 'ऊषा अनिरुद्ध' बरेली ही में खिला तथा 'पास' हुआ। 'सूरविजय' ने भी दिल्ली के अलावा अपना दूसरा बड़ा स्टेशन 'बरेली' ही बनाया।

एक 'किर्लास्कर' कम्पनी भी (मराठों की) इधर चल पड़ी थी। कानपुर में मैंने उसका एक 'नाटक' देखा था,—'संगीत' सराहनीय था—पर 'मराठी का हिन्दी अनुवाद'—लचड़'। शायद उस कम्पनी को अन्त तक अच्छा 'हिन्दी नाटककार' नहीं हो मिला। मैं ने तो मना ही कर दिया—जैसा कि ऊपर लिख चुका हूँ—कि मेरी 'रुचि' हट रही थी।

एक दिन सहारनपुर में—कानपुर के प्रसिद्ध औपन्यासिक और गल्पलेखक 'श्रीविश्वम्भरनाथ कौशिक'—'नहर' के किनारे' मुझे मिल गए। मैंने उन्हें ख़ूब उत्साहित किया कि आप इस (नाटक वाली) लाइन में आयें। उनकी स्वीकृति पर मैं ने उन्हें 'सोराबजी' और 'भोगीलाल' से मिला भी दिया।

अरे ! इस बीच में 'प्रह्लाद' की बात तो रह ही गई—जो मैं ने 'व्याकुल' के लिए कभी लिखा था—और फिर 'व्याकुल की बीमारी के कारण' किसी को भी नहीं दिया था। अचानक एक दिन (अलीगढ़ की नुमायश में) उसका 'प्रथमाङ्क' मैं 'सोराबजी' को सुना बैठा। वे बड़े ही ख़ुश हुए और तुरन्त ही १०००) में उसका सौदा करके—'वह पहला अङ्क' अगले ही दिन 'गुजराती' में ख़ुद लिख लिया;—तब मुझे छोड़ा।

'प्रह्लाद' के अगले दोनों अङ्क तो मैं ने—हिन्दी अक्षरों ही में लिखकर—'रजिस्टर्ड पोस्ट' से भेजे हैं; मेरी लिखी हिन्दी तो 'सोराबजी' अब ख़ूब पढ़ ही लेते थे। मैं इसकी प्रतीक्षा में बराबर रहा कि किसी अङ्क के 'संशोधन-कार्य' के लिए शायद 'सोराबजी' मुझे बुलायें—पर इस नाटक में ऐसा नहीं हुआ—उन्हों ने मेरा लिखा हुआ- ज्यों का त्यों रिहर्सल में चलाया। हाँ—एक दिन 'अहमदाबाद' से यह बुलावा ज़रूर आया कि 'गाने लिखने आइए।'

मैं जब 'अहमदाबाद'पहुँचा—तो मैंने देखा कि 'न्यू अल्फ्रेड' के मालिक 'माणिकजी, जीवनजी, मास्टर ने - 'मास्टर थिएटर' नाम से—एक लाख की लागत से—अपना 'पक्का थिएटर' वहाँ बनवाया है। निश्चय ही यह 'न्यू अल्फ्रेड' की 'कमाई' ही का 'ज़हूर' था।

उस्ताद ग़ुलाम हुसैन (तबला मास्टर) के कारण 'प्रह्लाद' के गानों के बोल और तर्जें बनाने में कोई 'कठिनाई' या 'अधिक परिश्रम' की बात ही नहीं हुई। 'ग़ुलाम हुसैन' की तब 'न्यू अल्फ्रेड' में पोजीशन थी, 'चलता पुर्ज़ा' के 'नाचों' की सब तर्जें उसी ने बनाई थीं--जो पब्लिक में ख़ूब 'पास' हो चुकी थीं। दिन में ४ घण्टे- 'ग़ुलाम हुसैन' और 'निहालचन्द' (हारमोनियम मास्टर) और मैं—एक साथ बैठकर जो कुछ बनाकर तैयार करते थे--वह 'सोराबजी' को 'सुना' देते थे--और वे भी बिना किसी एतराज़ के--'पास' कर देते थे।

अहमदाबाद में तब एक—गुजराती के नाटक खेलने वाली 'रायल कम्पनी' अपने नाटक खेल रही थी--मालिक का नाम था--'श्रीमहाभाई' (ब्राह्मण) और डायरेक्टर थे--'सोराबजी कात्रिक'--लेखक थे 'श्रीजामन' (जमनादास)। इस कम्पनी के कई खेल बड़ी धूमधाम से वहाँ चल रहे थे—'एकज भूल'--'भूलनोभोग' आदि। मुझे भी यह खेल बहुत ही अच्छे लगे। खेलों में 'पशा' (पुरुषोत्तम नायक) का पार्ट तो मैं आजतक नहीं भूला हूँ--उसका एक गाना तो अभीतक मेरे मस्तिष्क में गूँज रहा है--"हूँ कन्या थई ने अवतरी हिन्दू संसार माँ"--अर्थात्—'मैं कन्या बन कर हिन्दू समाज में क्यों पैदा हुई ?'

इस कम्पनी के मालिकों ने मुझ से बहुत ही आग्रह किया--कि उनके 'गुजराती' नाटकों का मैं 'हिन्दी रूपान्तर' करदूँ--

और उनकी कम्पनी 'दिल्ली' आकर (सूरविजय की तरह) अपने खेल खेले;-पर मैंने ('नाटक' से रुचि कम होजाने ही के कारण) उनका अनुरोध भी स्वीकार नहीं किया। कुछ दिन बाद सुना कि 'मुंशी जनेश्वरप्रसाद 'मायल' से वे लिखा रहे हैं। यह वे ही 'मायल साहब' थे-जिन्होंने 'व्याकुल भारत' के लिए 'तेग़े सितम' -और 'चन्द्रगुप्त' लिखे हैं। पर--न जाने क्या हुआ ! न 'रायल कम्पनी' दिल्ली आई—न उसके नाटक हिन्दी में इधर किसी ने देखे।

'प्रह्लाद' के गाने लिखकर जब 'मैं अहमदाबाद' से चलने लगा—तो 'सोराबजी' ने कहा--"तीन महीने के अन्दर ही हम 'प्रह्लाद' को 'इसी थिएटर' में खेलेंगे; पहले दिन देखने आइएगा"--मैंने कहा -"कोशिश करूँगा"। यह शब्द मेरी उन दिनों की रुचि के अनुसार ही थे--इतना ही नहीं--मैं गया भी नहीं--'पहली रात' को 'प्रह्लाद' देखने। कुछ दिन बाद--सुना कि बड़ी धूम से अहमदाबाद में 'प्रह्लाद' चल रहा है। 'सोराबजी' ने भी बधाई के साथ--ऐसा ही अपना पत्र मुझे भेजा। मुझे तब ख़याल आया कि 'पहुँच जाता तो अच्छा था।' मैं पहुँचता तो बापू (महात्मा गांधी)को 'पहली ही रात'—'प्रह्लाद' में लाता। मेरा तब उनसे अच्छा परिचय हो चुका था;-सन् १९१९ से १९२९ तक पूरे १० वर्ष मैं कांग्रेस का 'उत्साही-सदस्य' रहा हूँ—और 'डेलीगेट' की हैसियत से उस १० वर्ष में अधिकतर

काँग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में भी गया हूँ। सदस्यता की दृष्टि से तो आजतक काँग्रेस के अतिरिक्त और किसी भी राजनैतिक संस्था या पार्टी का मैं सदस्य बना ही नहीं हूँ। जहाँ तक याद है—प्रह्लाद की लिखाई शुरू हुई है—सन् १९१७ में;—और खिला है सन् १९२१ में।

आख़िर 'प्रह्लाद' की सफलता ने मुझे एक दिन 'अहमदाबाद' पहुँचा ही दिया। दिल्ली से 'बम्बई' जाने का प्रोग्राम था, बम्बई के 'मामराज रामभगत' फ़र्म के मालिक—'शेठ दुलीचन्द डालमिया' (चिड़ावा वाले) मेरी 'कथा' के बड़े प्रेमी थे। बार बार उन्हों ने मुझे 'बम्बई' बुलाया है। 'चिड़ावा' तक में बुलाया है। इस बार उन के बुलाने पर—दिल्ली से मैं ने 'अहमदाबाद' होकर जाने की ठानी;—जिससे अहमदाबाद में 'प्रह्लाद' भी देख लूँ।

अहमदाबाद पहुँच कर एक बड़ी दुःखद बात मालूम हुई। उसका दुःख तो आज तक है। मालूम हुआ 'लोभीलाल' ('प्रह्लाद' का कामिक कैरेक्टर) वाला पार्ट करते हुए—एक रात—'सोराबजी' को 'हार्ट डिसीज़' हुई;—तब से उन्हों ने पार्ट करना ही छोड़ दिया।

मुझे यह 'हसरत' रह ही गई कि 'वीर अभिमन्यु' में—जिन 'सोराबजी' को 'राजाबहादुर' के रूप में देखा था—'प्रह्लाद' में उन्हीं को 'लोभीलाल' के पार्ट में मैं नहीं देख

पाया। 'पहले दिन' आ जाता तो यह 'हसरत' नहीं रह जाती!

फिर भी 'प्रह्लाद' में मैं ने 'सोराबजी' के 'डायरेक्शन' का सौन्दर्य प्रत्येक पात्र में पाया। ख़ास तौर पर 'प्रह्लाद' (पुरुषोत्तम मारवाड़ी) और 'प्रमोद' और 'श्यामलता' (फूलचन्द मारवाड़ी) तथा 'हिरण्यकशिपु' (शाकिर भाई) के उच्चारणों को तो ऐसा सुना—मानो 'सोराबजी' ही बोल रहे हों। बाग़ की सीनरी 'वासुदेव दिवाकर' ने ऐसी बनाई थी—कि इस से पहले मैं ने कहीं नहीं देखी। भोगीलाल का 'सेट' किया हुआ एक नाच—'सुन्दररूप सुहाय' भी निश्चय ही 'अद्वितीय' पाया। चार मास तक खिलने के बाद भी—मैं ने जिस रात देखा -'हाउस' ठसाठस था;—बड़े दर्जों के 'टिकट' बन्द होजाते थे—शाम ही को।

कम्पनी के उस समय के एक मैनेजर (बिजली के भी इंचार्ज) 'मि० माणिकशाह बल्सरा' ने मुझसे कहा कि यहाँ की ख़ुफ़िया पुलिस का बड़ा अफ़सर दो बार अपनी 'डायरी' लेकर आया कि कहीं से भी नाटक को--'हुकूमत के विरुद्ध' पकड़ूँ—और बन्द कराऊँ—पर वह 'फ़ेल' रहा। 'प्रह्लाद' और 'प्रमोद' निश्चय ही 'हुकूमत के विरुद्ध' ख़ूब खुल खुल कर उस नाटक में बोलते थे;—पर 'आड़' यह थी कि—'किस हुकूमत के विरुद्ध'?—उस 'हिरण्यकशिपु' की—जिसने अपने लिए 'जगदीश' घोषित कर के 'प्रजा' को 'भ्रम' में डाला था।"

मुझे फिर अफ़सोस हुआ कि मैं ने बापू (महात्मा गान्धी) को यह नाटक क्यों न दिखाया ? मैं एक दिन और भी ठहरा— पर बापू (महात्मा गाँधी) 'साबरमती आश्रम' में 'नहीं' थे। आगे चलकर 'महामना मालवीय जी' ने इस नाटक को देखा— और दो बार देखा।

अहमदाबाद में—'प्रह्लाद' देखकर - एक बात फिर भी मेरी समझ में नहीं आई—'सोराबजी' ने तीसरे अङ्क के दो टुकड़े कर दिए थे, ढुँढा (प्रह्लाद की बुआ) के 'जलने' की जगह पर 'ड्राप' डलवा देते थे—और सिर्फ़ एक सीन (नृसिंहावतार का सीन) अन्त में दिखाते थे—इस प्रकार— 'अभिमन्यु' ही की तरह 'प्रह्लाद' को भी 'चारअङ्क' का ड्रामा बना दिया था। मैंने जैसे ही 'सोराबजी' से कहा--उन्होंने कहा "पेण्टर साहब (वासुदेव की राय से 'ढुण्ढा' के जलने के सीन के आगे पर्दे पर जो 'कामिक' है--वह इतनी लम्बी नहीं है--कि 'ढुण्ढा' का सीन खुलकर--'नृसिंहावतार' वाला 'खम्भों' का सीन लग सके"। मैं न उनके इस कथन को भी बिल्कुल वैसा ही समझा—जैसा 'अभिमन्यु' के समय समझा था। 'भोगीलाल' और 'वासुदेव' को पास बिठाकर—थोड़ा सा ही—सीनों का रद्दो बदल करके--जब मैं ने 'चौथा अङ्क' काटने का 'नक़शा' निश्चय कर दिया—तब 'भोगीलाल' के अतिरिक्त 'वासुदेव' पर भी मेरा बड़ा 'प्रभाव' पड़ा। हम दोनों उसी दिन से परस्पर बहुत 'नज़दीक' होगए। आख़िर

'सोराबजी' को भी यह समझाया गया। समझ जाने पर भी—उन्हों ने कहा—'अहमदाबाद' में तो अब ऐसे ही खिलेगा। यहाँ से कम्पनी जब 'कानपुर' जाएगी—तो नए रूप ही में—तीन ही अङ्कों में—वहाँ खेलेंगे'।—इसके बाद मैं अहमदाबाद से चल दिया। 'अहमदाबाद' में मुझे यह नहीं मालूम हुआ कि 'न्यू अल्फ्रेड' के एक दूसरे मैनेजर (रोटीघर के भी इंचार्ज) मि० मेहर्बानजी खुर्शेदजी कापड़िया पर मेरे इस 'त्रिअङ्की नाटक' बनाने का बड़ा प्रभाव पड़ा। कई वर्ष बाद सन् १९२५ ईस्वी में—'मेहर्बानजी' ने मुझसे कहा कि मेरे हृदय पर—उस दिन अहमदाबाद में—आपकी पूरी 'छाप' पड़ी थी।

'कम्पनी' कानपुर जब पहुँच गई—तो 'भोगीलाल' ने मुझे यह लिखकर बुलाया—'आइए—और रिहर्सल में अपनी पसन्द के 'त्रिअङ्की' नाटक को समझ लीजिए—यहाँ हम वैसा ही डालेंगे'। मैं बड़े उत्साह से गया—और अपनी मर्ज़ी के अनुसार 'त्रिअङ्की'—'प्रह्लाद' खिलवाया। 'सोराबजी' अब भी बीमार थे—बम्बई में इलाज करा रहे थे—'डायरेक्टर' का काम 'भोगीलाल' कर रहे थे।

'कानपुर' में 'प्रह्लाद' की घर घर धूम मच गई, 'श्रीविश्वम्भरनाथजी कौशिक' ने (जिनका भोगीलाल से अच्छा परिचय हो चुका था) स्वनाम धन्य 'श्रीगणेश शंकरजी विद्यार्थी' और 'श्रीबालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जी को भी यह

(प्रह्लाद) नाटक दिखाया। अभी तक 'हिन्दी लेखकों और सम्पादकों से मैं 'बहुत ही कम' मिला था; सिर्फ़ 'द्विवेदीजी' ही का 'कृपापात्र' बना था। पर, इस बार—इरादा करके—'प्रताप कार्यालय' गया—और 'प्रताप' के यशस्वी सम्पादक श्रीगणेशशंकरजी विद्यार्थी से भेंट की। क्या कहूँ! वे मनुष्य रूप में 'मूर्तिमान देवता' ही मुझे प्रतीत हुए। कुर्सी से उठकर मुझ से लिपट कर मिले और 'प्रह्लाद' के एक गाने के शुरू के बोल बोलते हुए मिले :—

"क्या अच्छा होता!—गल गल के तल्वारें -
बह जातीं—होकर 'मातृदूध' की धारें"।

'प्रह्लाद' की माता (श्यामलता) के मुख का यह गीत है।

'विद्यार्थीजी' ने कहा—'ऐसा नाटक लिख दिया है—जिस में—आने वाले भारत के रूप की एक 'भविष्य वाणी' है।

मिले ही नहीं वे;—मिष्टान्न आदि मुझे खिलाकर—ख़ूब ही 'आतिथ्य' का पालन किया। तब से—जब तक वे जिए—उनकी 'कृपा' ही मुझपर रही, 'प्रताप' भी 'मुफ़्त' मेरे नाम आता रहा। कहाँ हैं—और कितने हैं ऐसे 'देवस्वरूप'—देश और हिन्दी के प्रेम में डूबे हुए सम्पादक ?'—इस समय भी 'विद्यार्थीजी' मानो मेरी आँखों में हैं।

'कौशिकजी' के 'स्थान' पर—हिन्दी-प्रेमियों की तब एक 'गोष्ठी' सी—प्रायः नित्य ही रहती थी—वहीं 'श्रीनवीनजी'

से भेंट हुई, अभी तक उनसे 'अपनाइत' है; कभी 'दिल्ली' में मिलता हूँ—तो 'उसी प्रेम' से मिलते हैं। 'वर्तमान' के सञ्चालक 'श्रीरमाशङ्कर अवस्थी' से भी--वहीं से ऐसा 'प्रेम' बढ़ा कि वे एक बार 'बरेली' (राधेश्याम-भवन) में भी आए। उनका 'वर्तमान' भी--मित्रता के रूप में—अब तक मेरे यहाँ आरहा है।

'कानपुर' में मैंने सोचा—'सोराबजी, ज्यादा बीमार हैं—तभी तो 'कानपुर' नहीं आए! 'नाटक के संसार में'—उन्हों ने मुझे आगे बढ़ाया है। उनके सम्पर्क से मैंने बहुत कुछ सीखा है—मेरा 'कर्तव्य' है कि उन्हें रुग्णावस्था में देखने—उनसे भेंट करने—'बम्बई' जाऊँ।" यह भी खयाल आया—"मेरे 'परिवर्तन नाटक' की—मेरी हस्तलिखित कापी उन्हीं के 'ट्रङ्क' में है;—मेरे पास उसकी 'नक़ल' भी नहीं। उनकी ऐसी अवस्था में वह 'कापी' कहीं अस्तव्यस्त न हो जाए!—उसे भी ले आऊँ"—बस कई दिन 'कानपुर' रहकर—मैं बम्बई चला। 'निश्चय' ही 'सोराबजी' बहुत कमज़ोर हो गए थे। मुझे देखकर उन्हें कुछ 'हर्ष' हुआ,—'कानपुर' में 'प्रह्लाद' खूब चल रहा है—यह सुनकर तो और भी 'हर्ष' हुआ। जरा देर को 'शैया' से उठ कर बैठ गए। मैं ने सोचा—"यह वह व्यक्तित्व है—जिसने अपनी सारी उम्र एक ही रंग में बिता दी है, तभी तो 'पूर्णता' प्राप्त की है। अब भी वृद्धावस्था और

रुग्णावस्था में 'कम्पनी' और अपने डाइरेक्शन के नाटक 'प्रह्लाद' का कितना ध्यान है!"

'परिवर्तन' की जब बात चली—तो 'सोराबजी' ने कहा—'नहीं दूँगा'—'अच्छा होते ही मैं इसे 'स्टेज' करूँगा! इसके कामिक पात्र 'रमज़ानी' का अभिनय करने की मुझे बड़ी उमंग है। इस नाटक का पुरस्कार आपको २०००) दिया जायगा।" मैं चुप होगया; और उनके कमरे से 'साहबजी' (पारसियों की 'जयरामजी की') करके चल दिया।

उस रात मैं ने एक 'मराठी' नाटक देखा। 'भाषा' तो पूरी न समझ सका--पर 'कथानक'—'अभिनय'—'संगीत' ने मुझे 'प्रमुदित' कर दिया। वहीं एक मित्र से मालूम हुआ कि 'मराठों' ने तो धार्मिक नाटक--सन् १८५० ईस्वी के क़रीब से खेलने शुरू किये हैं। 'रामायण' ही की किसी घटना को लेकर पहला 'मराठी' नाटक खिला है।

उस 'मराठी नाटक' का दूसरा ड्राप जब गिरा—और मैं ज़रा देर को स्टेज से बाहर आया—तो मुझे 'डीन शा' 'पेण्टर'—स्वयं ही आकर—मिले, अपना नाम भी बताया—यह भी कहा कि 'न्यू अल्फ्रेड' का 'वासुदेव पेण्टर' मेरा शिष्य है" ।—'डीनशा' का नाम मैंने सुन रक्खा था—'सहर्ष' भेंट की । वार्तालाप के मध्य में उन्होंने कहा—"सोराब जी अब 'पार्ट' न कर सकेंगे—उनके बग़ैर 'न्यू अल्फ्रेड'

भी कमज़ोर पड़ जाएगी। आप आगे को अपना नाटक 'कावसजी खटाऊ' के सुपुत्र 'जहाँगीर शेठ' की 'खटाऊ कम्पनी' को दें। वह ख़ूब 'तरक़्क़ी' पर है—आजकल 'सूरत' में है, आप पर कोई नाटक तैयार है?" —मैंने कहा –"है तो – पर वह मैंने 'सोराबजी' को दे दिया है—उनके ट्रङ्क में है।" – उसने पूछा—"कितने में दिया ?"—मैंने कह दिया—"२०००) में।" वह तुरन्त बोला – 'बड़ा सस्ता दिया—आप उसको उनसे वापिस ले आएँ—तो मैं ४००० में 'खटाऊ कम्पनी' के मालिक के हाथ बिकवा दूँगा।"—मैंने कहा—"अच्छा तो सुबह आप मुझसे 'सोराबजी' के यहाँ मिलिए"। वह बोला-"वहाँ नहीं आऊँगा।" मैंने कहा – "तो मेरे ठहरने की जगह-'सुखानन्द की धर्मशाला' में दोपहर बाद आइए।" —उसने कहा—"अवश्य, पर अपने नाटक की किताब 'सोराबजी' से सुबह ले आना—भूलना नहीं"– मैंने कहा—"अच्छा"।

"अपने नाटक को 'सोराबजी' से लेकर 'डान शा' द्वारा दूने दामों पर दूसरी कम्पनी को देना—मेरे लिए ठीक है या नहीं ?" उस रात शैया पर मैं यही 'घोटता' रहा। बम्बई में इस तरह—एक की वस्तु –'लालच देकर' दूसरा हथियाने की चेष्टा करने में तनिक सङ्कोच नहीं करता—यह तजुर्बा भी पहली बार ही हुआ। आख़िर सुबह 'सोराबजी' से मैंने सब बात साफ़ साफ़ कहदी। मानो—'अपने हृदय का बोझ उतारकर उसे हल्का कर दिया'। सोराबजी मेरे इस सच्चे

व्यवहार पर 'प्रभावित' हुए-और ट्रङ्क से निकालकर 'परिवर्तन' की कापी मुझे दे दी। कापी देकर कहा—"तुम्हारे लाभ को मैं अपना ही लाभ समझता हूँ—पर एक ध्यान रखना—बम्बई के 'सौदागरों' से तुम वाक़िफ़ नहीं हो—'एक ही अंक' पढ़कर सुनाना और आधा पुरस्कार अर्थात् २०००) जब तुम्हारी जेब में पेशगी आजाय—तब उसी 'एक ही अंक' की उन्हें 'कापी' करा देना। 'डीन शा'को मैं जानता हूँ—वह 'पेण्टर' अच्छा है,—'स्वामि-भक्त' भी है, इसीलिए ऐसा कर रहा है—पर उस कम्पनी के 'एकाउण्ट' में आजकल रुपए नहीं हैं।" मैंने सोराबजी की इस राय को उसी तरह माना—जिस तरह कोई 'अबोध बालक' अपने बुज़ुर्ग की मानता है। 'डीन शा' से मिलकर—उसी रात मैं 'सूरत' को रवाना हुआ।

'सूरत' में मेरी बड़ी ख़ातिर हुई, वहाँ की मिठाइयाँ तो विख्यात हैं हीं; वे मँगाई गईं,—एक 'औदीच्य' ब्राह्मण द्वारा 'बढ़िया भोजन' बनवाकर तवाज़ो की गई। रात को नाटक बड़े सम्मान सहित दिखाया गया—'असीरे हिर्स'।—मैंने देखा—'नाच के सेट में—नायक जाति का—एक भी लड़का नहीं'—सभी 'पेशेवर नर्तकी' थीं-और काफ़ी थीं। 'सूर-विजय' और 'न्यू अल्फ्रेड' के 'नाटककार' पर इसका कैसा प्रभाव पड़ा!—यह बात पाठक स्वयं समझें। 'न्यू अल्फ्रेड' का 'अम्मूलाल' (जिसने पहली रात ही से 'अभिमन्यु' का वहाँ 'पार्ट' किया था) अब इस कम्पनी में आगया था;—शायद

'डाइरेक्टर' था। स्टेज पर 'शरीफ़ा बाई' नें एक 'मर्दाना पार्ट' किया था—'कला की दृष्टि से' वह मुझे कुछ अच्छा लगा।

दूसरे दिन सबने मेरे 'परिवर्तन' का पहला अंक सुना। पसन्द किया। कहा—लिखाइये। मैंने २०००) पेशगी तलब किया;—उत्तर मिला—१५ दिन में दे देंगे—आप तब तक लिखाना शुरू कीजिए। गाड़ी रुक गई। अम्मूलाल ने बहुतेरा कहा—"मुझ पर विश्वास कीजिए—मैं बरेली ही के पते से आपको 'चेक' भिजवा दूँगा।" पर—सोराबजी से मन्त्र-दीक्षा लेकर आने वाला—कब 'हाँ' कर सकता था? यह 'परिवर्तन' का सौदा न पटने का बड़ा दुःख—शरीफ़ा को अवश्य हुआ—क्योंकि 'परिवर्तन की चन्दा' का पार्ट उसे अपने लिए बहुत भाया था।

यह ज़रा सी बात मैंने इसलिए कुछ बढ़ाकर लिखी है—कि मैं पाठकों को बताऊँ--'नाटक के संसार में' ऐसी बातें भी तब चल रही थीं। आज फ़िल्म के संसार में तो उससे भी कहीं ज्यादा हैं।

एक ही दो वर्ष बाद 'अम्मूलाल' और 'शरीफ़ा' अपनी नई कम्पनी बनाकर बरेली आए—और 'न्यू अल्फ़्रेड' की भाँति ही टीन का 'मँडवा' बना कर बरेली में उन्होंने अपने तमाशे खेले। यह यहाँ लिखना व्यर्थ है कि 'सूरत वाली' वह 'कम्पनी' टूट ही चुकी थी।

'अम्मूलाल' और 'शरीफ़ा' ने बरेली में भी 'परिवर्त्तन' बहुत माँगा;—पर मैं ने नहीं दिया। उनकी कम्पनी को भी मैं बहुत दिनों चलने वाली कम्पनी नहीं समझता था; और हुआ भी ऐसा ही। उस ज़माने में नई कम्पनी बनते भी देर नहीं लगा करती थी—और टूटते भी। हर बड़ा ऐक्टर अपने लिए राइटर और डाइरेक्टर ही समझता था। और इस 'टर' में—किसी धनवान को प्रोप्राइटर बना कर दिवाली मनाता था; फिर दिवाला निकालता था।

सन् १९२२ के आख़िर में 'न्यू अल्फ़्रेड'—अपना 'प्रह्लाद' दिल्ली वालों को दिखाने के लिए दिल्ली आगई। 'सोराबजी' के बिना तो कम्पनी—सूनी ही थी; दिल्ली में बिना 'सोराब' की कम्पनी तो एक हवा उखड़ने की बात थी। इस कारण, कम्पनी के मालिक ने, बीमारी की कमज़ोरी रहते हुए भी—सोराबजी को दिल्ली बुला लिया था। पार्ट यद्यपि वे नहीं करते थे, डाइरेक्टर भी भोगीलाल थे, पर दिल्ली में यह हवा ज़ुरूर बँधी रही कि सोराबजी भी कम्पनी में हैं।

इन्हीं दिनों सोराबजी ने मुझे दिल्ली बुलाया। 'परिवर्तन' की बात चलाई। 'सूरत' का सब वृत्तान्त तो मैं उन्हें ख़त में लिख ही चुका था। उनकी राय थी कि परिवर्तन की 'रिहर्सल' शुरू होजाय। 'भोगीलाल' रिहर्सल चलायें, पूरी तैयारी में लगभग एक वर्ष तो लगेगा ही, तब तक ताक़त आजायगी

और रमज़ानी का पार्ट 'सोराबजी' ही करेंगे ।— मैं ने मान लिया, और भोगीलाल को 'परिवर्तन' (पहली बार) सुनाया। उन्हें कुछ ज्यादा नहीं जँचा। न जँचने का कारण स्पष्ट था— उन के लायक़ उसमें कोई पार्ट ही न था। 'लक्ष्मी' बन सकते थे - पर 'स्त्री' का पार्ट करना १-२ वर्ष से वे छोड़ चुके थे। 'श्यामलाल' के लिए उनका 'ठिँगना क़द'—फ़िट नहीं था; फिर वह उनकी नेचर का पार्ट भी नहीं था। मैं ने और सोराबजी ने—यह बात समझ ली और ख़ूब हँसे।

भोगीलाल—ने मुझ से कहा—'कथानक' मैं दूँ और लिखें आप। 'चलता पुर्ज़ा' के कथानक में—सोराबजी और मुँशी अहसन के पास बैठ बैठ कर—उन्हें (भोगीलाल को) कथानक सम्बन्धी कुछ 'ज्ञान' भी हो चला था—और दिलचस्पी भी बढ़ गई थी। मैं ने उनका यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। स्पष्ट कह दिया—"मैं तो कथावाचक हूँ—ख़ाली वक्त में कभी कभी—शौक़ के कारण—'नाटकों' के सीन भी लिखता रहा हूँ। बँधकर मैं ऐसा नहीं कर सकता।" सोराबजी ने तब कहा— "उर्दू के मुँशी तो अब कम्पनी से चले गए। हिन्दी का कोई नाटककार कम्पनी में वैतनिक रूप से रखाओ, ताकि भोगीलाल उसी से अपने 'कथानक' पर नाटक लिखवाया करें। पर वह वैतनिक पण्डित विश्वासी हो। (कम्पनियों में तब हिन्दी नाटककार का नाम 'पण्डितजी' चल पड़ा था— जिस तरह कि उर्दू नाटककार का नाम 'मुंशी जी' चला था)

'विश्वासी' उन्हों ने इसलिए कहा था कि 'हस्तलिखित' नाटक के सीन, गाने 'चुराकर'—दूसरी कम्पनी में पहुँचाने की बेईमानियाँ भी कुछ 'नीच लोग' करने लगे थे।

सोराबजी ने कहा—"परिवर्तन के पार्ट बसन्तपंचमी को बटेंगे—उसका रिहर्सल मैं ही चलाऊँगा; तबतक और ताक़त आजाएगी; भोगीलाल अपना लिखाया हुआ नाटक निकालें। इस क्रम से कम्पनी में दो नए नाटक सन् २३ के अन्त तक निकल सकेंगे।"

'अपने मन कुछ और है—कर्ता के मन और' के अनुसार सोराबजी बसन्तपंचमी तक ठीक न हो सके; और मैं भी 'मेरठ की नौचन्दी' तक (जहाँ कम्पनी प्रतिवर्ष जाती थी) 'कोई वैतनिक विश्वासी लेखक' वहाँ न भेज सका। आख़िर तक़ाज़ों से तंग आकर—'भ्रमर सम्पादक' अपने पूर्ण विश्वासी-श्री प० गोपीवल्लभ शालग्राम उपाध्यायजी को वहाँ भेजा।

'उपाध्यायजी' के सम्बन्ध में भी यहाँ कुछ लिख दूँ। आप से मेरा प्रथम परिचय 'अहमदाबाद में' हुआ था—जब आप महात्मा गान्धी जी की सेवा में थे। गांधीजी के लिखे हुए 'नवजीवन' का हिन्दी अनुवाद श्री हरिभाऊजी उपाध्याय के साथ आप किया करते थे—जो 'हिन्दी नवजीवन' के नाम से निकलता था। 'गोपीवल्लभजी' का स्वास्थ्य अहमदाबाद में ठीक नहीं रहता था, स्नेह बढ़ने पर—मैंने उन्हें बरेली

(राधेश्याम प्रेस में) बुला लिया था। यह 'प्रेस' सन् १९२१ में क़ायम हो चुका था। आपके आने के बाद प्रेस से 'भ्रमर' नामक एक 'मासिक पत्र' निकाला गया—जिसके प्रथम सम्पादक आपही बने-'श्रीगोपीवल्लभ उपाध्याय'। आपका ऊँचा व्यक्तित्व, हिन्दी और देशप्रेम से ओतप्रोत मन, शुद्ध खद्दर पहनने का व्रत और सच्चाई तथा ईमानदारी वाली प्रवृत्ति ने अब तक मुझे आपके 'स्नेहबन्धन' में बाँध रक्खा है, आपकी 'जन्मभूमि' तो आगर (मालवा) है, पर आजकल आप रहते हैं 'श्रीनित्यानन्द आश्रम', धार (मध्य भारत) में।

हाँ—तो 'गोपीवल्लभ' जी को ही मैं ने 'न्यू अल्फ़्रेड' भेजा, ताकि उनके 'वेतन' कीवृद्धि भी हो—और उनके द्वारा हिन्दी तथा समाज की वह सेवा भी 'नाटकों द्वारा' हो—जिसकी शुरूआत हो चुकी थी।

सच्ची बात तो यह है कि मनुष्य और उसके विचार तथा उसका सभी कार्यक्रम 'सीमित' है—'असीम' नहीं है। 'क़ुदरत का चक्कर' या 'ग्रहों का फेर'—या 'भगवान् की मर्ज़ी' वह 'लुहार के घन की सी' चोट है—जिसके आगे भौतिकवादी मनुष्यों की भौतिकवाद वाली बारीकियाँ 'सुनार की सी खुट खुट' हैं। 'बीमारियाँ'—'मुक़दमेदारियाँ'—'कारबार के नुक़सानात' और उन सब से भी बड़ी बात—'साथियों की मृत्यु' किसी 'अदृश्य शक्ति' ही के हाथ मालूम पड़ती है। क्यों हमारी

'बुद्धि' बिगड़ती है ? क्यों हम 'पतन' के मार्ग पर बह जाते हैं ? 'निराकार बुद्धि' को किसकी 'प्रेरणा' चला रही है ? मैं तो इस सब के भीतर—'सर्वेश्वर भगवान्' ही को मानने वालों में से हूँ।

'न्यू अल्फ्रेड' की कमाई—उसके मालिक 'मि० मास्टर' को 'हज़म' न हो सकी। 'कमाना' जितना परिश्रम और विचार-साध्य है, कमाए हुए धन को सुरक्षित रखना,—ऐसे स्थान पर रखना जहाँ उसकी वृद्धि ही होती रहे—उससे भी कठिन कार्य है। अन्यथा अधिकतर तो यही देखने में आया है कि 'धनमद' में मनुष्य 'अनाप-शनाप' ख़र्च करने लगता है—और तब 'चञ्चला लक्ष्मी' उसे छोड़ देती है।

'मि० माणिकजी जीवनजी मास्टर (मालिक-न्यू अल्फ्रेड) पर 'शेयर बाज़ार' का रंग चढ़ा। अच्छी और मज़बूत कम्पनी के 'शेयर्स' नक़द दाम देकर और अपने नाम पर उन्हें चढ़वाकर अपने पास रखना 'इन्वेस्टमेंट' कहलाता है—यह और चीज़ है—तथा शेयर्स के भावों की घटा बढ़ी—वायदे की तारीख़ का—लेना बेचना या बेचना लेना 'स्पेक्यूलेशन' है—यह दूसरी चीज़ है। आख़िर 'मि० माणिकजी मास्टर' घाटे में आए। इतने घाटे में आए--कि अहमदाबाद के 'मास्टर थिएटर' की जो ज़मीन उन्होंने कभी 'धन के जोश' में ख़ूब तेज़ 'लीज़' पर ले रक्खी थी—उसका 'सालाना' भी न चुका सके।

'ज़मीन'के मालिक ने इस शर्त पर वह 'लीज़' दी थी कि अमुक समय तक—'किराया' न चुका तो 'मास्टर थिएटर'—ज़मीन के मालिक की सम्पत्ति हो जायगी;—ऐसा ही हुआ।

मि० माणिकजी जीवनजी मास्टर में आख़िर इतनी कमज़ोरी आई कि'न्यू अल्फ्रेड' भी अब उन्हें 'बोझ' मालूम हुई। अन्त में उसकी (न्यू अल्फ्रेड की) मिलकियत उन्हों ने छोड़ दी। तीन व्यक्तियों को 'मालिक' बना दिया, १—उनके धेवते मि० फ्रामरोज करेंजिया, २—उनके मैनेजर मि० मेहर्बानजी कापड़िया, ३—उनके मैनेजर मि० माणिकशा बलसारा।

कम्पनी की मिलकियत बदलते ही 'सोराबजी' ने भी कम्पनी को सदा के लिए छोड़ दिया। 'भोगीलाल' स्थायी 'डायरेक्टर' हो गए। यह सब समाचार मुझे पत्र द्वारा मालूम हुए। मैं भी कुछ हल्का सा हुआ। चलो—'छुट्टी' पाई। अब 'प्रेस' को बढ़ाऊँगा। नाटक के शौक़ और कथाओं की दौड़ के कारण—'प्रेस' पर मेरा 'ध्यान' ही अधिक न था। उसे चला रहा था तब मेरा ज्येष्ठ पुत्र 'घनश्याम'। और चला रहे थे—'श्रीरामनारायण पाठक'—और आगे फिर 'श्रीसतीश-कुमार कपूर' आगए—'श्रीचन्द्रनारायण सक्सेना' भी आ गए। मैं ने भी अपने इन 'प्यारों' के साथ—कई महीने 'प्रेस' में बैठ कर 'नई पुस्तकें' तेज़ी से 'प्रकाशित' करना शुरू कीं। 'भ्रमर' को भी 'उत्तम मासिक' के रूप में निकालना आरम्भ किया।

सन् १९२४ के 'ग्रीष्मकाल' की बात है—अचानक आगरे से 'न्यू अल्फ़्रेड' के नए मालिकों का एक 'पत्र मेरे पास—आया—कि एक नया नाटक लिखा हुआ तैयार है; 'सोराबजी शेठ से 'पत्र' द्वारा प्रार्थना की गई थी कि वे उसे देख लें और पास कर दें; तभी उसका तैयारी शुरू हो। (यह तो सही ही है कि 'नए नाटक' की ड्रेस, सीनरी आदि में तब २०-२५ हज़ार रुपये तो कम्पनी के लगते ही थे)—'सोराबजी' ने बम्बई से 'इनकार' लिख भेजा—और 'मेरे नाम की सिफ़ारिश' की—कि 'राधेश्याम' को दिखला लो।'

मैं फिर भी आगरे न गया। अचानक अगले हफ़्ते स्वयं 'सोराबजी' का एक पत्र मेरे पास बम्बई से आया कि 'अपनी न्यू अल्फ़्रेड के ड्रामों का स्टैण्डर्ड न गिरे—इस लिए तुम ज़रूर जाओ और उस नाटक को देखकर 'पास' करो। तुम्हारी जैसी राय हो—वह मुझे भी लिखना।

इस पत्र ने मेरी 'भावना' फिर जगाई। गुरुवत् तो उन्हें मैं मानता ही था—आख़िर 'आगरे' रवाना हुआ। वहाँ पहुँच कर 'सोराबजी' का हस्तलिखित एक पत्र जब मैंने पढ़ा तो गद्गद् सा हो गया - उन्हों ने नाटक के सम्पूर्ण अंगों (लेखन, चरित्र-चित्रण, उच्चारण, कथानक. दृश्यों का क्रम, अभिनय, निर्देशन, गीत, संगीत,

नाच, सीनरी, ड्रेस आदि) का पूर्ण जानकार मुझे लिखा था—लिखा तो यहाँ तक था—कि 'राधेश्याम' के नाम से एक दूसरा 'सोराब' मैं ने नाटक संसार को दिया है।'—मुझे—लाखों रुपये के लाभ से भी ज्यादा ख़ुशी उनके उस पत्र से हुई—उनकी उस बुज़ुर्गाना फ़ैयाज़ी को—मैंने एक बड़ा 'सार्टीफ़िकेट' समझा। उसी दिन उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए—'नए नाटक' को पढ़ना—समझना—पूरी ताक़त और पूरी ईमानदारी से शुरू कर दिया। भोगीलाल और 'उपाध्यायजी' मेरे पास बैठे। नाटक के प्रधान लेखक—श्रीविश्वम्भरनाथजी कौशिक भी कानपुर से आए हुए थे—वे भी बैठे। यह बैठक 'दो दिन तक' काफ़ी समय दे देकर रही। नाटक था 'अहल्योद्धार'। 'कथानक' में भोगीलाल का अधिक हाथ था—उन्हों ने अपना पार्ट 'गौतम' का विशेष रूप से उपाध्यायजी से ठीक कराया था—बाक़ी सब नाटक 'कौशिकजी' की लेखनी ने लिखा था। निश्चय ही 'भाषा' बड़ी 'सुन्दर' थी—'भाव' भी कहीं कहीं अत्युत्तम थे। 'गौतम' को तो 'आदर्श सन्त' ही बनाकर रक्खा गया था। पर 'अहल्या' और 'इन्द्र' ?—कुछ विचारणीय थे। गौतम से विवाह के पहले के भी एक दो सीन थे—अहल्या-इन्द्र के प्रेम के। आगे फिर—गौतम-पत्नी बनने के बाद भी—'अहल्या-इन्द्र' के 'पाप-मिलन' का पूरा सीन था एक।—शायद उसी पर दूसरा 'ड्राप' गिरता था।

उस रात मुझे 'नींद' कम आई। सोचता रहा—'इन्द्र और अहिल्या' के दृश्यों का प्रभाव तो हमारे बालक बालिकाओं पर 'बुरा' ही पड़ेगा।'—यह भी सोचा—"ख़ारिज भी करूँ—इस 'प्लाट' को तो—कहीं 'कौशिकजी' को बुरा न लगे।" आख़िर सुबह उठकर 'उपाध्यायजी' से मन की बात कह डाली; वे 'सन्त-प्रकृति' के थे—बुरा मानने की प्रवृत्ति से कोसों दूर। 'उपाध्यायजी' ने कहा—"मुझे भी यह बात खटकी थी—'भोगीलाल' से कही भी थी—तभी उसने 'गौतम' के पार्ट को 'आदर्श' लिखाया।"—मैंने सोचा—"तो इस नाटक का नाम 'महर्षि गौतम' रख दें!"—फिर सोचा—"अहल्या-इन्द्र का क्या करें?" इतने में स्वयं 'कौशिकजी' मेरे रूम में आगए—प्रेम से बोले—"तुम्हीं ने सहारनपुर की नहर के किनारे मुझे 'प्रोत्साहन' दिया—फिर सोराबजी और भोगीलाल से मुझे मिलाया; अब तुम्हीं 'निसङ्कोच' अपने मन की बात मुझसे कहो कि तुम्हारे विचार से यह 'नाटक' कैसा रहेगा?"—'श्री कौशिक जी' के हृदयदर्पण को विशुद्ध देखकर—मैंने उनसे अपना सब सन्देह साफ़ साफ़ कह दिया। वे बोले—"द्विजेन्द्र बाबू की 'पाषाणी' पढ़कर भोगीलाल ने यह 'कथानक' बनाया है—'कथानक' के वे ही जिम्मेवार हैं—मैं तो लेखन (भाषा आदि) का उत्तरदायी हूँ।" मैंने कहा—"वह आपका 'वर्क' अत्युत्तम है,"—फिर कहा—'पाषाणी' न जाने किस परिस्थिति में लिखी और

खिली है—हमें आज का अपना समाज देखना है—जहाँ 'अहल्या' पञ्च कन्याओं में मानी जाती है।—पुराणों में जहाँ जहाँ इसका प्रसङ्ग मिले—उसे अध्ययन करके इसके—सीनों को सँभालना ही पड़ेगा। या ऐसा कीजिए—कल्पना के दो नए कैरेक्टर बढ़ाइए—'पाप और धर्म'। अहल्या पर जब पाप की दृष्टि पड़ती थी तो 'इन्द्र' के प्रति उसका 'प्यार' उछलता था, और 'धर्म' जब निहारता था तो 'गौतम' की ओर उसका हृदय उसे ले जाता था।"—'श्री कौशिकजी' ने इसे पसन्द कर लिया। थोड़ी देर में जब भोगीलाल आए तो उन्होंने कहा—"खूबसूरत बला में नेकी और बदी आचुकी है—इसमें नए दो कैरेक्टर नहीं रक्खेगें।"

फिर कहा—"बद औरत का भी कैरेक्टर स्टेज पर दिखाया जाता है—जैसा कि हमारे उर्दू नाटक शरीफ़ बदमाश' में है; जिसका कि (बद औरत का) पार्ट मैं स्वयं कर चुका हूँ।" अचानक मेरे मुँह से निकला कि—"शरीफ़ बदमाश तो फ़ेल हुआ है"—भोगीलाल ने इस वाक्य को बुरा मानने के भाव से सुना,—पर वे मुझसे कह क्या सकते थे? अन्त में यह कहा कि आप अपनी आज की मुकम्मिल राय—सोराबजी शेठ को लिख दीजिए। मैं कुछ और ढंग से 'इन्द्र-अहल्या' के सीनों को फिर लिखवाकर—आपको दिखाऊँगा—और तभी स्टेज करूँगा। मैंने उसी दिन—सोराबजी को लिख दिया—और रात की गाड़ी से बरेली लौट आया।

चलते समय 'मेहर्बानजी कापड़िया' मुझे स्टेशन तक छोड़ने आए। मुझ पर उनके इस 'प्रेम' का बड़ा प्रभाव पड़ा। आगे चलकर तो मेहर्बानजी ने मुझ से यह भी कहा—"अहमदाबाद के बाद—आगरे में आपकी क़ाबलियत और ईमानदारी की मुझपर दूसरी 'छाप' पड़ी थी।"

इसी वर्ष (सन् १९२४ में) बरसात बाद--एक दिन सवेरे मैं ने देखा कि 'उपाध्यायजी' अपना झोला और बिस्तरा दबाए 'राधेश्याम प्रेस' में उपस्थित हैं। मैं ने साश्चर्य कहा—"यह क्या ?"—वे बोले—"न्यू अल्फ्रेड की 'सर्विस' छोड़ आया। मालिकों ने अचानक 'तार द्वारा'—भोगीलाल को 'बर्ख़ास्त' कर दिया—तब मैं ने भी—'इस्तेफ़ा' दे दिया।" कुछ ठहर कर उपाध्यायजी ने कहा—"नाटक कम्पनियों के भीतर का अन्तर्द्वन्द्व ऐसा बुरा है—कि कोई भी शुद्ध व्यक्ति वहाँ रहकर हिन्दी या देश की सेवा कर सके—यह बड़ा कठिन है।"

मैं उस समय एक दूसरे ही मूड (mood) में था; बरेली कालेज की एक मीटिंग से लौटा था, कहा-"नाटक कम्पनियाँ ही क्यों ? सभी जगह अन्तर्द्वन्द्व है। स्कूल, कालेजों तक में-जो कि विद्यार्थी संस्थाएँ हैं—मैनेजिंग कमेटी के सदस्यों की हाज़िरियों ही में—और वहाँ के 'पालिटिक्स' ही में—अधिकांश मास्टर प्रोफ़ेसर्स और प्रिंसिपल्स लगे रहते हैं। विद्यार्थियों को विद्वान् और सच्चरित्र बनाने के लिए—न उनका ध्यान है—न उन

पर समय। अरे—म्यूनिसिपल और डिस्ट्रिक्टबोर्ड के कर्मचारी तक—'मेम्बरों' को ख़ुश करने—उनके इलेक्शन आदि में दिलचस्पी लेने ही में लगे रहते हैं। शहर की सफ़ाई और देहात की देख-भाल न कभी हुई न होगी। जाति सभायें तक--धार्मिक संस्थायें तक—ठीक तरीक़े पर नहीं चल रही हैं। अपना 'मुख्य ध्येय' न देख कर—'कमेटियों' और 'पदों' के 'पालिटिक्स' ही में सदस्यगण सारा समय लगाते रहते हैं;—इसीलिए टूटती रही हैं—ऐसी सभाएँ और ऐसी संस्थाएँ। जैसे थोड़ी पूँजी के मासिक, साप्ताहिक पत्र; थोड़े दिन निकल कर बन्द। सुधार कार्य बड़ा मुश्किल है आजकल के वातावरण में उपाध्यायजी।"

'उपाध्यायजी' इसके बाद—कई दिन—बरेली रहकर चले गए। उन्होंने उसके बाद 'वीणा'–'त्यागभूमि'–'अखण्ड भारत' आदि पत्रों के सम्पादन विभाग में रह कर हिन्दी और देश की सेवा की है।

थोड़े दिन बाद—लाहौर से लखनऊ—अपने घर—जाते हुए; एक ट्रेन के लिए--बरेली उतर कर—'न्यू अल्फ्रेड' का टेलर-मास्टर 'मोहम्मदअली' मुझ से मिलने आया। उसने कहा—"भोगीलाल में ख़ुद्दारी बढ़ गई थी, वे 'सोराबजी' ही की भाँति 'कम्पनी' को अपने एकाधिकार में चलाने लगे थे। सोराबजी के काल में तो कम्पनी का एक ही मालिक था जो अलग बँगले में रहता था, सिर्फ़ रात को थोड़ी देर के लिए,– अपनी मोटर में—'रुपये की सन्दूक़ची' लेने आता

था—बाक़ी सब बाहर भीतर की ज़िम्मेवारी 'सोराबजी' पर ही छोड़ रक्खी थी। अब तो तीन मालिक हैं—जो आठों प्रहर कम्पनी के साथ ही रहते हैं। यह स्वाभाविक है कि वे 'प्रबन्ध' में दिलचस्पी लेंगे। भोगीलाल चाहते थे—कि वे दख़ल न दें।—यह कैसे हो सकता था? आख़िर बात इतनी बढ़ी कि- 'भोगीलाल' बर्ख़ास्त होगए।"

मोहम्मदअली ने फिर कहा—"मालिक लोग आपको बहुत याद करते हैं—उनके पत्र के उत्तर में आपने जो 'लाहौर' न पहुँचने की बात लिखी है—इस से उन्हें 'ठेस' सी लगी। आप ज़रूर जायें। अगर कम्पनी डूब गई तो आपके 'अभिमन्यु' और 'प्रह्लाद' भी तो डूब जायेंगे। मैं भी एक हफ़्ते बाद पहुँच जाऊँगा—छुट्टी पर ज़रा घर जा रहा हूँ।"

'मोहम्मदअली' के जाने के बाद--मैंने यह भी सोचा कि—'अभिमन्यु' की तरह 'प्रह्लाद' भी छापना है--पर उसका भी तो 'कापी राइट' मैंने 'न्यू अल्फ़्रेड' को लिख करके दिया है। अब 'कम्पनी' की ओर से--यह नए मालिक मुझे लिख कर दें--तभी तो 'प्रह्लाद' छाप सकूँगा। इस काम के लिए भी मुझे कम्पनी में जाना ही पड़ेगा। आख़िर नौम्बर में मैंने यात्रा की; कम्पनी तब 'पेशावर' थी—मैं वहीं गया।

कम्पनी के मालिकान ने बहुत ही प्रेम से मुझे तब 'अतिथि' बनाया। शहर से कई मील बाहर--एक बारा में

मुझे लेजा कर 'बात' की। जिसका ख़ुलासा यह था—"भोगीलाल के बम्बई लौट जाने के कारण 'सोराबजी' अब यह चाहते हैं कि 'न्यू अल्फ़्रेड' टूट जाए— ताकि यह 'रेकर्ड' रहे कि बिना 'सोराबजी' (और भोगीलाल) के 'कम्पनी' नहीं चली। इसीलिए आप अब 'कम्पनी' से 'स्थायी' सम्बन्ध कर लें।"—उनकी यह बात सुनकर--मेरे दिल पर यह असर पड़ा—कि नए मालिक ('मेहर्बानजी' और 'माणिकशा') 'सोराबजी' (और भोगीलाल) के ज़माने के कम्पनी में मैनेजर आदि ही तो थे। अब यह मालिक बने। इनके मालिक बनने का प्रभाव—उन दोनों पर नहीं पड़ना हा चाहिए—उनकी दृष्टि तो वह ही है—जो इनके मैनेजर आदि रहने के ज़माने में थी। तीसरे मालिक 'फ़ामरोज़' तो तब भी—'हिसाब किताब' और 'रेल्वे विभाग', के कामों को करते थे—जो आज भी करते हैं—उन्हें 'स्टेज' और उसके 'पालिटिक्स' से न पहले 'लगाव' था—न आज है।

मैं ने मालिकान से यह शर्तें कीं—

१—'मेरे नाटकों के खेलने का हक़ रहेगा कम्पनी को और छापने प्रकाशित करने का रहेगा मुझे।' (उन्हों ने इस संशोधन के साथ इसे स्वीकार कर लिया कि अन्तिम नाटक न छापें—वह तब छापें जब उसके बाद और 'नया' निकल जाए'। मैं ने—मान लिया)

२—दूसरी शर्त यह कि मैं बँधकर 'कम्पनी' के साथ नहीं रहूँगा—'कथायें' कहता रहूँगा, 'प्रेस' चलाता रहूँगा—और अपनी फ़ुर्सत के समय में ड्रामा भी लिखता रहूँगा—जो पूरा लिख जाने पर आपको दे दिया करूँगा। (उन्हों ने इस संशोधन के साथ इसे भी स्वीकार कर लिया कि दूसरी किसी कम्पनी को आप नाटक न लिख सकेंगे।—मैं ने यह भी मान लिया)

अब रही वेतन की बात। सो इसे मैंने 'मेहर्बानजी' पर ही छोड़ दिया। उन्हों ने तत्काल ही कहा—रेल भाड़ा जब जब आप आयेंगे सेकिण्ड (आजकल के फ़र्स्ट) और थर्ड क्लास का बदस्तूर दिया जायगा। भोजन के लिए २) की जगह ३) रोज़ दिए जायेंगे। रहने के लिए—कम्पनी में अलग स्वतन्त्र मकान (या उसका किराया) दिया जायगा। वेतन प्रतिमास ३००) दिया जायगा—जो चेक द्वारा 'बरेली' पहुँचता रहेगा—या आप जब कम्पनी में होंगे तो ले लेंगे—मैंने उनका यह कथन-ज्यों का त्यों—स्वीकार कर लिया।

पाठक—क़ुदरत का चक्कर देखें!—'अपचाही कब भई है-प्रभुचाही तत्काल' वाली कहावत के अनुसार पहले नाटक (अभिमन्यु) का पुरस्कार केवल ३००) ही जिसे मिला था—उसे ही अब ३००) मासिक—घर बैठे उसी 'कम्पनी' से मिलने की बात तय हुई।

दोनों ने परस्पर सादी चिट्ठियाँ—इन सब शर्तों के साथ लिख-लिख कर—एक दूसरे को देदीं; और इस तरह १५ नोम्बर सन् १९२४ को इस बन्धन में मैं बँध गया।

ड्रामा तो मेरे पास 'परिवर्तन' के अतिरिक्त और कोई था ही नहीं। मालिकों ने उसी को शीघ्र से शीघ्र खेलने की योजना बनाई। 'भोगीलाल' के जाने के बाद 'कम्पनी' ने बम्बई से जिन 'यहूदी' डायरेक्टर को बुलाया था—उनका नाम था—'डेनियल दादा'। बड़े नम्र, बड़े मिलनसार। सारी कम्पनी को उन्होंने 'मित्र' सा बना रक्खा था। मुझे भी अपने 'मधुर व्यवहार' से 'पहले ही दिन' प्रभावित किया। उन्हीं ने अपनी लेखनी से 'परिवर्तन' की नक़ल की गुजराती अक्षरों में। मुझसे समझते भी जाते थे वे ड्रामे को। एक और नवयुवक 'नर्मदाशङ्कर त्रिभुवन नायक' भी उनके साथ बैठता था। यह नाच मास्टर भी था—और रात को खेल के समय-घण्टी चककरी का कार्य भी करता था—जैसा कि सोराबजी के समय में भोगीलाल करते थे। उसने भी ड्रामों की कापी समझी समझाई।

मुझे इसमें कई दिन लग गए—'पेशावर' पहली बार आया था—नागरिकों को जब मालूम हुआ तो 'नगर' में लेगए। 'कथा' भी कहनी पड़ी। उधर कम्पनी के मालिकों ने भी ख़ूब सैर कराई। 'ख़ैबर घाटी' ख़ूब देखी।

'अफ़ग़ानिस्तान' की 'सरहद' तक गया। वहाँ 'एक पाँव' भी रख दिया--जो वहाँ के सिपाही के मना करने पर तुरन्त उठा भी लिया। ऐसा 'चुलबुलापन' मुझमें कभी कभी आ जाता है।

मालिकों ने कहा -"कम्पनी यहाँ से देहली जायगी। आप वहीं आएँ और अवश्य आएँ--रिहर्सल में जब ड्रामे को आप- 'पास' कर देंगे—तभी 'स्टेज' होगा। 'गाने' भी देहली ही में बनेंगे। 'पेण्टर' (वासुदेव) और दर्ज़ी (मोहम्मदअली) दोनों अपने 'परिचितों' को 'सीनरी' और 'ड्रेस' का पूरा आइडिया देकर -बड़े से टोकरे में वहाँ के 'सर्दे'--और एक झोले में 'हींग' लेकर--नौम्बर ही में बरेली चल दिया।

शुरू जनवरी ही में- उसी 'वीर अभिमन्यु' वाले 'संगम थिएटर' (जगत टाकी) में फिर मैं दिल्ली पहुँचा; इस बार ठहरने को सदरगेट के ऊपर वाला बड़ा कमरा मिला। कम्पनी और उसके मालिकान की रिहाइश वहाँ से कुछ दूर-- एक मकान में थी। चूँकि कम्पनी के मालिकान से मैंने कह रक्खा था कि मुझे 'कम्पनी के साथ' रहने में 'शान्त वातावरण' नहीं मिलेगा—इसी कारण उन्हों ने मेरी रिहायश का यह प्रबन्ध किया—सदा ही—ऐसा प्रबन्ध किया है।

सुबह १० बजे 'रिहर्सल' में पहुँच कर मैं ने देखा कि डायरेक्टर 'डेनियल दादा' (यहूदी) 'परिवर्तन' का रिहर्सल

चला रहे हैं। मेरे पहुँचते ही—डायरेक्टर और सभी ऐक्टरों ने खड़े होकर मेरा स्वागत किया। ख़ैर—यह तो 'शिष्टाचार' था,—पर आश्चर्य मुझे तब हुआ—जब 'डेनियल दादा' (डायरेक्टर) ने मुझे 'परिवर्तन' की हस्तलिखित किताब देते हुए—फ़र्माया—'आप जब आगए हैं—तो अब आप ही रिहर्सल चलायें"। मैं ने उनके इस कथन को भी 'शिष्टाचार' ही समझा और कहा—"नहीं नहीं, आप ही रिहर्सल चलायेंगे। मैं तो कुछ देर यहाँ ठहर कर—'ड्रेसरूम' में जाऊँगा और वहाँ बैठ कर—'निहालचन्द' और 'ग़ुलामहुसैन' (हारमोनियम और तबला मास्टर) के साथ--'गानों' का काम हाथ में लूँगा।

दो तीन दिन ऐसे ही बीते—आधा पौन घण्टा रिहर्सल में बैठ कर--फिर मैं ड्रेस रूम (म्यूजिक रूम) में चला जाता था। पर इन दो तीन दिन—'रिहर्सल' में थोड़ी थोड़ी देर बैठ कर—मेरा सर 'भारी' होने लगा। सर 'भारी' होने का कारण प्रत्यक्ष था—'सोराबजी ओग्रा' की 'शब्दोच्चारण' वाली 'रिहर्सलें' अनेक बार देखीं और समझीं थीं; वह रंग इस 'डायरेक्शन' में बिल्कुल नहीं था। अचानक चौथे दिन—शाम को—मेहर्बानजी ने मेरे रूम में आकर मुझसे कहा—"डेनियल कैसी 'रिहर्सल' चलाते हैं? यह इसलिए पूछ रहा हूँ कि वे हिन्दी के 'जानकार' नहीं हैं।" मैंने कहा—"सोराबजी शेठ याद

आ रहे हैं।"—एक दो दिन बाद फिर एक शाम को मेहर्बानजी 'डेनियल' के साथ मेरे 'रूम' में आए और बोले—"हम दोनों की ख्वाहिश है कि अपने 'हिन्दी नाटक' की 'रिहर्सल' आप ही चलायें।" मैंने कहा—"डेनियल दादा चला तो रहे हैं।" डेनियल दादा ने कहा—"आप चलायेंगे तो मुझे कुछ सीखने को मिलेगा"—निश्चय ही यह वाक्य उनके सौजन्य की पराकाष्ठा थी।

अगले दिन से मुझ पर रिहर्सल का बोझ भी आगया। 'गानों की रिहर्सल का समय' तब मैं ने शाम के ५ बजे से रख दिया। अब दिन रात मेरा दिमाग़ इसी में काम करने लगा। दो ही दिन बाद मैं ने यह भी 'महसूस' किया कि 'पार्ट' ग़लत तक़्सीम हुए हैं। वही 'वीर अभिमन्यु' वाली ग़लती। अब अगर 'पार्टों' को बदलता हूँ तो ख़ास तौर पर—कई पारसी और मुसल्मान भाई मेरे विरोधी हो जाँय। नहीं बदलता हूँ तो 'ड्रामा' कमज़ोर जायगा। आख़िर बड़ी बात तो 'ड्रामे' ही का 'पास' होना है। मैंने अपना दिल कड़ा करके—मेहर्बानजी के नोटिस में यह बात लाकर—'परिवर्तन' खिलने के पहले—'परिवर्तन' के पार्टों में भी 'परिवर्तन' कर ही डाला। कहीं 'विरोधी' भावनायें बहुत न बढ़ जायें--इस दृष्टि से—मेहर्बानजी ने—'रिहर्सल' में आकर एक 'भाषण' दे दिया कि—'आज से स्टेज और रिहर्सल का सम्पूर्ण अधिकार—सोराबजी की भाँति—पण्डितजी को दिया जाता

है।' निश्चय ही इस 'भाषण' के बाद 'दिल जले ऐक्टरों' के मुँह बन्द ही रहे। मैं ने उसी दिन से—प्रेम, औचित्य, और 'मिलनसारी' का बर्ताव सभी कर्मचारियोंसे शुरू कर दिया। 'सोराबजी' का हाथ भोगीलाल जिसतरह बंटाते थे मैं ने वही पद 'नर्मदाशङ्कर त्रिभुवन नायक' को दे दिया। मेहर्बानजी के रूम ही में वह रहता था-मुझे मेहर्बानजी से सीधा सम्पर्क क़ायम रखने में उससे सहूलियत थी। इस दर्म्यान में कई-हिन्दी भाषा भाषियों के पत्र मेरे पास आए थे कि हमें भी 'न्यू अल्फ्रेड' में रख लीजिए—मैंने उन में से 'प्रवासीलाल वर्मा' को चुना, मेरे लिखे हुए सीनों की कापी करने, पार्टों को लिखकर बाँटने, प्रेस में इश्तहार आदि छपाने,बोर्ड लिखवाने के काम के लिए। 'वर्मा जी' हिन्दी के 'ख़ुशख़त' होते हुए- गुजराती, मराठी भी जानते थे—इसलिए भी वे उचित रहे। गुजरातियों को गुजराती अक्षरों में पार्ट लिखकर दे देते थे और 'हिन्दी जानने वालों' को हिन्दी में। मेरी ग़ैरहाजिरी में जब 'नर्मदाशङ्कर' को रिहर्सल चलानी पड़ती थी—तो हिन्दी शब्दों का अर्थ बताने में उसे सहायता भी देते थे।

'परिवर्तन' के 'पार्ट' बदलते समय—मैं ने कुछ 'नरमाई' ही रक्खी। हीरो—'श्यामलाल'—का पार्ट—एक 'पारसी' से छीन कर-किसी 'हिन्दू' को न देकर—'शाकिर भाई' मुसल्मान) को दिया। यद्यपि वह क़द का लम्बा होने के कारण

'फ़िट' नहीं था—पर 'बोलता' तो ठीक ही था, समझता भी ख़ूब था।—मेरे इस बर्ताव से मुसल्मान ऐक्टरों में 'विद्रोह' नहीं सा ही हुआ। 'शाकिर' तो सदा सर्वदा के लिए मेरा हो गया। 'चन्दा' का पार्ट करने वाला कोई नवयुवक आख़िर तक मुझे--मेरे मन का--न मिला। 'लक्ष्मी' का पार्ट 'नर्मदाशङ्कर' ने ठीक किया। चौबे रामकृष्ण ने अपना छोटा सा पार्ट 'ज्ञानचन्द वकील' का ख़ूब चमकाया। गोल्डेन गोली में 'छगनलाल' और शम्भूदादा में 'इब्राहीम मोटे' ने कमाल का काम किया। 'नाच' भोगीलाल की तरह-नर्मदाशङ्कर ही ने निकाले थे। आख़िर मार्च सन् १९२५ के दूसरे सप्ताह में नाटक खिला। शनिवार, रविवार को खिलने के बाद--जब कम्पनी ने यह एनाउंस किया कि अब यही खेल अगले शनिवार को होगा'--तभी दर्शकों में से--'शतशत कण्ठ' से यह आवाज़ें आईं-- नहीं--कल--सोमवार को भी यही होगा'--आख़िर प्रत्येक दिन ऐसी ही दर्शकों की--हठ के कारण—लगातार नौ दिन तक--अगले इतवार तक--यही खेल चला। 'नाटक के संसार में' इस प्रकार एक ही खेल नित्य होता रहे--यह प्रणाली--यदि मैं ग़लती पर नहीं हूँ तो--'परिवर्तन' ही से शुरू हुई है।

उस 'इतवार' की रात को मेरा इरादा 'बरेली' की वापसी का था। जनवरी से अबतक बरेली नहीं गया था। १५-१५ दिन की तीन-चार कथाएँ रोके हुए था। सिर्फ़ १००) रोज़

वाली - एक दो स्थानों की कथा—देहलीही से जाकर कह आया था। मैंने जब कम्पनी के मालिकान से बिदा माँगी तो मेहर्बानजी के नेत्रों में 'प्रेमाश्रु' थे। उन्होंने कहा—"१ अप्रैल सन् १९२५ से आपका वेतन ३००) की जगह ५००) हुआ और भोजन का भत्ता जो ३) दैनिक था—वह ५) दैनिक हुआ—क्यों कि हमने रोज़ देखा है कि १) रोज़ के तो आप सिगरेट ही पी जाते हैं।" (तब गोल्डफ्लैक सिगरेट का टीन—५० सिगरेटों वाला—१) ही में मिलता था)—मैंने दिल ही दिल में कहा—"१५ नोम्बर सन् २४ को नौकरी शुरू हुई और साढ़े चार माह बाद १ अप्रैल सन् २५ ही को २००) माहवार की तरक्क़ी ?"—फिर दिल ने कहा—'मेहनत रायगाँ नहीं जाती।"

'परिवर्तन' के समय की एक दो बातें और लिख दूँ। 'श्रीआग़ाहश्र' का भी एक नाटक 'आँख का नशा' मैडन थिएटर' कलकत्ते में खिला और 'पास' हुआ था। 'परिवर्तन' में 'चन्दा' का पार्ट करने की इच्छा रखने वाली (जैसा कि अपने इस 'नाटककाल' के पृष्ठ १०२ पर, मैं लिख चुका हूँ) 'शरीफ़ा' ने—उस नाटक में 'वेश्या' का 'पार्ट' इतना अच्छा किया था कि रेकार्ड तोड़ दिया था। 'श्रीआगाहश्र' के तो जीवन ही का 'वेश्या और मदिरा' बड़ा अंग था—इसलिए उन्होंने इस 'विषय' को लिक्खा भी लाजवाब है। वे ही लिख भी सकते थे यह विषय लाजवाब।

मेरे सामने इस विषय को लिखने और स्टेज कराने में बड़ी कठिनाई आई। अन्ततोगत्वा मुझे एक 'वेश्या' के यहाँ कितनी ही बार जा-जाकर वहाँ की 'तहज़ीब' सीखनी पड़ी है। वह थी एक 'पहाड़िन हिन्दू वेश्या'। उच्च विचार की। यही कारण था कि मेरी 'चन्दा' उच्च विचार की लिखी गई। और अन्त में जब वह 'देश की सेवा को सन्यासिनी' बनकर आई—तो जनता के हर्ष की सीमा न रही।

कम्पनी के दूसरे मालिक 'श्रीमाणिकशाह बलसारा' के कुछ मुसलमान मित्र भी दिल्ली में थे। उन्होंने–'बस अल्लाह ही अल्लाह है'—इस कामिक वर्ड पर 'एतराज़' कर डाला। बातें मेहर्बानजी तक –और मुझ तक भी पहुँचीं। हम दोनों ने 'एकमत' होकर उस 'एतराज़' की पर्वा न की। 'ईश्वर, अल्लाह, तेरे नाम'—के अनुसार—'अल्लाह' सभी का है। और—'बस अल्लाह ही अल्लाह है'—यह बात भी तो सच्ची है। फिर हम इसे 'रोकर' कहें—या 'हँसकर'। इस पर 'एतराज़' क्यों ? 'एतराज़' की असलियत वह नहीं थी। यह थी—कि 'न्यू अल्फ्रेड' का 'डायरेक्टर' हिन्दू हुआ है। (वेतन के रजिस्टर में मेरा नाम १ अप्रैल सन् २५ से सबसे प्रथम—'डायरेक्टर' की उपाधि से—लिखा जाने लगा था) मैंने उस 'वातावरण' को भी शान्त रखने के लिए—बरेली आने के पहले—रिहर्सल में यह 'घोषित' किया कि मेरी

ग़ैरहाज़िरी में मेरे दो असिस्टेण्ट, डाइरेक्टर का काम कम्पनी में करेंगे। उर्दू नाटकों में 'श्रीइब्राहीमभाई' और हिन्दी नाटकों में 'नर्मदाशंकर'।

मुरादाबाद का एक लड़का 'फ़िदा हुसेन' मिस्टर माणिकशाह बल्सारा की सेवा में रहता था—उनकी 'चाय' आदि बनाता था। वह जब मेरे ध्यान में आया—तो मैंने उसे मिस्टर माणिकशा से माँगकर—'स्टेज के ऐक्टरों' में भरती कर लिया। निश्चय ही उसे सिखाने में मैंने खूब ही परिश्रम किया है। वह इतना चमका, इतना बढ़ा कि कम्पनी के प्रथम ऐक्टरों में पहुँच गया। कम्पनी से निकल जाने के बाद भी—दिल्ली में—एक दूसरी कम्पनी में—उसने 'नरसी मेहता' का पार्ट करके—इतनी शोहरत हासिल की कि लोग उसका नाम इस प्रकार लेने लगे—'फ़िदा हुसेन नरसी'। अब वह कलकत्ते की एक थिएट्रिकल कम्पनी में 'डायरेक्टर' है। यह सब मैंने इसलिए लिखा है कि मैंने अपने दिमाग़ में हिन्दू मुसलमान का भेद नहीं रक्खा है,—'स्टेज की सफलता' ही का ध्यान रखा है। फिर भी यह हिन्दू-मुसलमान की 'खिचड़ी' पकती ही रही। मेहर्बानजी हिन्दुओं को ज़्यादा मानते थे—या शायद, हिन्दी नाटकों और हिन्दू दर्शकों के कारण—कम्पनी जो आगे बढ़ रही थी—उसका उनपर यथेष्ट प्रभाव था। क्योंकि यह तो मानी हुई बात है कि 'हिन्दू' किसी नाटक को देखकर 'पास' कर देगा—तो

अगले दिन वह अपने स्त्री-बच्चों (परिवार) समेत देखने आएगा। रामलीला हो या रासलीला अथवा धार्मिक नाटक यह सब देखने के लिए—उस समय की—(पर्देवाली) नारियाँ बहुत लालायित रहती थीं। मेरे 'धार्मिक नाटक' ख़ूब चलने का यह भी कारण है। अरे साहब, कारण तो 'कथावाचकी' की सफलता के भीतर भी यही है। अब तो नंगे सिर—सब जगह नारियाँ डोलने फिरने लगी हैं—'सिनेमा' उनकी ख़ास 'तफ़रीहगाह' है। पुरुष यदि सिनेमा की नटियों को देखने 'सिनेमा' में जाते हैं—तो नारियाँ सिनेमा के सितारों का रूप ही नहीं—'अदाएँ' भी देखकर दिल ख़ुश करती हैं। पर २५ वर्ष पहले की महिलाएँ ? नाटक में 'श्रीकृष्ण' भगवान् के दर्शन करते ही—दूर से हाथ जोड़कर—सिर झुकाया करती थीं।

हाँ—तो—मेहर्बानजी का ध्यान—हिन्दुओं की ओर जाने के कारण—कम्पनी में हिन्दू ऐक्टरों की संख्या बढ़ने लगी। गुजरात से अधिक संख्या में 'नायक' आने लगे, उत्तर भारत के 'नन्दकिशोर'—'भगवतकिशोर व्याकुल'—'गिरिजाशङ्कर'-'गंगाप्रसाद गवैया' आदि कितने ही अच्छा और क़ायदे का काम करनेवाले ऐक्टर—और गायक—मैंने बढ़ाए। कम्पनी जब 'परिवर्तन' खेलने बम्बई गई—तो डेनियल दादा बम्बई ही रह गए। फिर कम्पनी के साथ नहीं आए। 'मुसलमान'—और 'पारसी' भी धीरे-धीरे जाने लगे

बाहर के मुसल्मानों ने फिर 'आवाज़' उठाई कि 'न्यू अल्फ्रेड' तो 'सूर विजय' की तरह—'हिन्दू कम्पनी' होरही है। इसी वातावरण में - कम्पनी के मालिकान की फ़र्माइश पर—'परिवर्तन' के बाद—मैंने उर्दू मुसलमानी ड्रामा—'मशरिक़ी हूर' लिखा और स्टेज कराया। कम्पनी के मालिकान को आश्चर्य हुआ कि मैं उर्दू भी लिख लेता हूँ—वे यह नहीं जानते थे कि रुहेलखण्ड के अन्तर्गत—बरेली के इस कथावाचक ने होश आते ही—पहले उर्दू ही पढ़ी है- 'तहसीली स्कूल' में पढ़ी है। पढ़ने के बाद—'अमीर हमज़ा की दास्तान' 'फ़सानये आज़ाद'—'ख़ुश्तर' और 'फ़रहत' की रामायणें ही नहीं—'ग़ालिब' और 'नासिख़' के दीवानों पर भी दीवाना रहा है।

'मशरिक़ी हूर' की सफलता में 'फ़िदा हुसैन' का काम, सर्व प्रशंसनीय रहा। 'रौशनआरा' बनकर—उसने जो गानों (ग़ज़लों) की वंसमोरें ली हैं—वह 'अभिमन्यु' के 'निसार' से भी कहीं ज्यादा रही हैं। कामिक में 'शान्ति' ने ग़ज़ब का पार्ट किया। यह 'नायक' लड़का बड़ा ही तेज़ था। नन्दकिशोर ने भी 'दिलेरजंग' का 'पार्ट' करके—दर्शकों के हृदय में सदा के लिए अपना 'स्थान' बना लिया। एक भूल इसमें भी रही—गुजरात के एक नए 'नायक ऐक्टर' को मैंने—मेहर्बानजी के कहने से—'हीरो' (सुल्तान) का पार्ट दे दिया;—जो 'कमज़ोर' गया। यह बात प्रायः मुझे खटकीहै,—

तब से तो मैंने यह इरादा पुख़्ता कर लिया कि किसी के भी कहने से--बिना समझे हुए—नए ऐक्टर को—कोई बड़ा 'पार्ट' नहीं दूँगा। मेहर्बानजी से भी कह दिया कि वे इसमें दख़ल न दें।

फिर भी 'ईं रक़्से महे ख़ूबाँ, ईं शीशओ पैमाना' वाला—मास्टर नर्मदाशङ्कर द्वारा निकाला हुआ नाच,—और 'उस्ताद ग़ुलाम हुसैन' द्वारा बनाई हुई 'तर्ज़' आज भी 'जिन्दा' है। कितने ही 'गाने' उस तर्ज़ पर अब तक बन चुके हैं।

'मशरिक़ी हूर' के सम्बन्ध की एक दो बातें और लिखनी हैं। 'मिस्टर माणिकशा' ने मुझ से कहा कि 'कुछ मुसल्मान—ख़्वाहमख़्वाह - आपके 'उर्दू नाटक' की कटु आलोचना न करें—इसके लिए अभी से सोच लेना चाहिए। असल में उन दिनों के 'नाटकीय वातावरण' में—'अख़बारी दुनिया' से बहुत सचेत रहना पड़ता था। 'आलोचनात्मक लेख' बहुत निकलते थे--उन लेखों में आलोचक की पसन्द ही अधिक रहती थी—'कावसजी खटाऊ' की 'पारसी अल्फ़्रेड' तो इसी कारण कमजोर पड़ी और—'मैडन थिएटर्स' के हाथ बिकी। 'कावसजी' का भी इसी दुःख में 'देहावसान' हुआ। लाहौर के 'श्रीलालचन्द फ़लक' उस कम्पनी की 'महाभारत' और 'रामायण' के पीछे पड़ गए। गौहर का 'द्रौपदी' और 'सीता' बनना—हिन्दू दृष्टिकोण के विरुद्ध है; आन्दोलन इसी बात पर

शुरू हुआ था। फिर महाभारत में 'चेता चमार' ठूँसना—तथा 'रामायण' में सीता की शान में—'गोरे-गोरे गालों पर है यूँ तो आँख जमाने की' ऐसे गाने लिखने आदि विषयों पर भी 'एतराज़' चले। जोश में आकर 'बेताबजी' (उन नाटकों के लेखक) ने उत्तर छपा दिए। बढ़ते बढ़ते एक 'तूफ़ान' सा उठ खड़ा हुआ। परिणाम में 'कम्पनी' और उस के 'मालिक' की हानि हुई। इस पुरानी घटना को 'न्यू अल्फ़्रेड' के मालिक किसी समय नहीं भूले। यही कारण था जो 'माणिकशा' ने मुझे 'चिताया'। मैं ने तब 'कानपुर' के प्रसिद्ध नेता और कवि 'श्रीहसरत मोहानी' के पास जाकर पूरा 'मशरिक़ी हूर' उन्हें सुनाया और उर्दू तथा 'मुस्लिम' दृष्टि से उनकी 'राय' ली। उनकी 'विशुद्ध और श्रेष्ठ' सम्मति—हस्तलिखित नाटक की कापी पर—लिखवा कर ही मैं वहाँ से वापिस लौटा—और उनकी राय की 'पब्लिसिटी' भी की—तब कहीं—उस समय की 'मज़हबी आग'—'मशरिक़ी हूर' के लिए 'पानी' बनी। 'श्रीआग़ाहश्र' ने 'परिवर्तन' और 'मशरिक़ी हूर' देख कर—एक दिन मुझ से कहा—'चन्दा' का 'सन्यासिनी' बनना और 'हमीदा' का शादी न कर के 'मदीने' जाना—हम नहीं लिख सकते थे—हमारे ख़ून में यह 'तपस्या' और 'त्याग' है ही नहीं। श्रीगांधीजी के अनुयायी ही ऐसा 'प्लाट'—'स्टेज' पर ला सकते हैं। निश्चय ही—'श्रीआग़ाहश्र' ऐसी बेलाग बात भी कभी कभी कह जाते थे।

'न्यू अल्फ़्रेड' में सोराबजी की जगह 'कॉमिक पार्ट' करने वाले पारसी का नाम था—'फ़ीरोजशा पीठावाला।' यही 'परिवर्तन' में 'रमज़ानी' बना था—और इसी ने 'मशरिक़ी हूर' में 'सलामत बेग' का पार्ट किया था। नाटक की सफलता के बाद वह ऐसी अभिमान भरी बात ऐक्टरों में कह उठा कि—"मेरे 'सलामत बेग' के पार्ट ही ने 'मशरिक़ी हूर' को इतना ऊँचा उठाया है।" मुझे उसका यह अभिमान बुरा लगा। तब मैं ने अगले नाटक 'श्रीकृष्णावतार' में उसका 'पार्ट' ही नहीं रक्खा। 'श्रीकृष्णावतार' ने जब आशातीत सफलता प्राप्त की, तो उसकी 'आँख' खुल गई;—'नशा' उतर गया। फिर तो एक दिन शाम को—बाग़ में—जब मैं टहल रहा था—साष्टाङ्ग प्रणाम करके—मुझ से 'क्षमा' चाही, और अपना 'मनोविकार' तस्लीम करके 'आत्मसुधार' की बात भी कही। उस दिन से उस ने मुझे 'पिता' ही माना। 'न्यू अल्फ़्रेड' छोड़कर वह जब 'बम्बई टाकी' में पहुँचा—तब भी एक दिन बम्बई में उसी भाव से मिला। उसका 'क़िस्मत' का पार्ट 'सर्वप्रिय' है। वास्तव में 'फ़ीरोजशा पीठावाला' मेहनती, सद्गृहस्थ और सच्चा पारसी था। यह मैं ने इसलिए लिखा है—कि डाइरेक्टरों को ऐसी मुठभेड़ें भी—ऐक्टरों से करनी पड़ती हैं।

'वीर अभिमन्यु' लिखने के बाद—एक और नाटक लिखने का भी 'चाव' मुझे हुआ था। वह है 'सती पार्वती'।

'सती पार्वती' नाम इसलिए चुना था—कि भगवान् शङ्कर की भार्या के दो जन्म हुए हैं—पहले जन्म में उनका नाम 'सती' और दूसरे जन्म में 'पार्वती' था। उन के दोनों जन्मों की कथा मिलाकर—पूरा 'शिवचरित्र' इस नाटक में रखना था। उसके एक दो सीन तो 'सोराबजी' ने भी सुनकर 'सराहे' थे। मिस्टर माणिकशा ने अब यह 'प्रस्ताव' रक्खा कि 'सती पार्वती' ही स्टेज किया जाय। उन दिनों 'न्यू अल्फ्रेड' में 'सती' अथवा 'पार्वती' का 'पार्ट' करने वाला कोई 'फ़िट' 'ऐक्टर' नहीं था। मैं चाहता था—'प्रह्लाद' में—उसकी माता 'श्यामलता' का पार्ट करने वाले—'फूलचन्द मारवाड़ी' को। पर वह तो इन दिनों 'मैडन थिएटर्स' में चला गया था। यह ही दिक़्क़त मैं ने 'माणिकशा' के सामने रक्खी। पर—वे यह समझे कि पण्डित जी 'सती पार्वती' हमें देना ही नहीं चाहते हैं—'ट्रङ्क' में बन्द ही रखना चाहते हैं। मैं ने बहुत समझाया—उन्हें विश्वास ही नहीं हुआ। तब मैं ने उनके आग्रह पर—'पहले अङ्क के पार्ट' बाँट दिए। इतनेमें एक और घटना घटी। श्रीनारायण प्रसाद 'बेताब' अकेले में मुझसे आकर मिले। कहा—"मुझे अपनी पुत्री की शादी करनी है, रुपये की आवश्यकता है, कलकत्ते (डीनशा पेएटर को) लिखकर मैंने 'पारसी अल्फ्रेड' में (जो अब मैडन थिएटर्स की थी) एक नाटक लिखने का 'कन्ट्रांक्ट' कर लिया है। तुम अपना 'सती पार्वती' मेरी ख़ातिर रोक

दो। इस सब्जेक्ट को मैं जल्दी लिख लूँगा। मैंने उनसे 'हाँ' कहदी। पर यह भी उनसे कह दिया कि नाम 'सती पार्वती' न रखना;—जो उन्होंने स्वीकार किया। कई दिन बाद—'बेताब' जी की बात न कहकर—'पार्ट'—'फ़िट' नहीं हैं—इसी बात पर ज़ोर देकर—मैंने माणिकशा से फिर कहा—'कोई दूसरा सब्जेक्ट निकालने की मेरी राय है।' उस समय माणिकशा ने स्पष्ट मुझसे कहा—'आप 'सती पार्वती' हमें देना ही नहीं चाहते हैं'—मैंने कहा 'ऐसा नहीं है—काग़ज़ लिखवा लो'। उन्होंने भी कह दिया—'लिख दो'। आख़िर मैंने लाहौर में—स्टाम्प पर लिखकर—रजिस्ट्री करादी कि 'सती पार्वती' 'न्यू अल्फ्रेड' ही का है। यद्यपि माणिकशा का यह व्यवहार मुझे भाया नहीं—और अपने पर भी अफ़सोस हुआ कि मासिक वेतन लेकर नाटक लिखता हूँ। पर क्या करता.—लाचारी थी। उधर हश्र, बेताब और मैं-अलग अलग तीन कम्पनियों में अपने अपने नाटक खिलवाते हुए भी—आपुस में मित्रता का सम्बन्ध रखते थे। 'बेताबजी' की अदना सी एक माँग मैं कैसे पूरी न करता? यह मित्रधर्म के विपरीत था। सिर्फ़ एक ही बात में 'बेताबजी' से मैं लड़ा हूँ। यद्यपि वह बात—उनकी निजी बात है। दूसरा ब्याह करने के बाद—प्रथम पत्नी के पुत्र 'मुकुन्दलाल सीमाब' को उन्होंने 'बेताब' नहीं बनाया!—आख़िर मैंने उसे सीमाब को) कई बरस तक 'प्रूफ़ रीडरी' की जगह पर-'राधेश्याम-प्रेस'

में रक्खा। इसके बाद वह--बम्बई चला गया, और शायद आजतक 'मिनर्वा मूवीटोन' में है। खुलासा यह है कि 'न्यू-अल्फ्रेड' में 'सती पार्वती' रुक गया और कलकत्ते में बेताबजी का 'गणेश-जन्म' खिला। उसकी सीनरी डीनशा ने इतनी लाजवाब बनाई—कि सीनरी पर ही नाटक को 'पास' होना चाहिए था। मैं इधर इस विचार में पड़ा कि 'सती पार्वती' के बदले कौन सा नाटक अपनी कम्पनी में निकालूँ ? अन्त में 'श्रीकृष्णावतार' का विषय ठीक समझा। इसे लिखने, इसकी सीनरी और ड्रेसें बनवाने, तर्जें और नाच 'सेट' कराने, ऐक्टरों को पार्ट सिखाने आदि सभी कार्यों में अपने को मैंने पूरा डुबाया है। इससे पहले तक मैं केवल लेखक—या ऐक्टरों को ड्रामा सिखाने वाला डाइरेक्टर था—अब 'डिक्टेटर' था। १—२ बड़े बड़े सीन मैंने 'खारिज' कर दिए। 'ड्रेसें' बनी बनाई 'फ़ेल' करदीं। अपने ही हाथ से ऐक्टरों को बाँटे हुए 'पार्ट' अपनी ही राय से बदल भी दिए। चौबे रामकृष्ण को अन्त में जब 'नारद' का 'पार्ट' मैंने दिया—तो वह मुझे इतना ठीक जँचा कि उस पार्ट ही को मैंने लम्बा कर दिया। भला नाटक तो हो 'कृष्णजी' का—और—उसमें 'लीडिंग पार्ट' हो 'नारद' का ? है न अटपटी बात ? पर मैंने ऐसा किया और स्वेच्छा से किया। अपने ही लिखे हुए नाटक को काट काट कर—वह रूप दिया जो छपी हुई किताब में आज है।

इतने हद से ज़्यादा--परिश्रम का फल यह हुआ कि मैं 'मेलेरिया' से ग्रस्त हो गया; फिर भी बदस्तूर काम में डटा रहा। और भोजन भी करता रहा। ग्राण्ड रिहर्सल की रात को मुझे १०५ डिगरी का बुख़ार था। रिहर्सल मेरे मन की—सही—उतरी। तब मैं खेल की रात वाली—अपनी हाज़िरी की—पर्वा न करके—उससे एक दिन पहले ही अमृतसर से बरेली चल दिया। बरेली आकर--तीन महीने तक--उस 'चेंचड़ बीमारी' का शिकार रहा हूँ। बीमारी ही में ख़बर आई कि 'वीर अभिमन्यु' के बाद—यही ड्रामा जनता की दृष्टि में 'सर्वश्रेष्ठ' निकला है। 'टिकटघर' की खिड़की पर 'पुलिस' का इन्तिज़ाम रहता था। सन् १९२६ के दशहरे (विजया दशमी) को यह ड्रामा पहली बार अमृतसर में खिला था। कई महीने अमृतसर रहकर—कम्पनी जब लाहौर गई—तो लाहौर की जनता ने अमृतसर की जनता से भी ज्यादा इसे अपनाया।

अभी सन् १९५३ में—बम्बई में—फिल्मों के एक निर्माता 'श्रीरघुपतिराय' (राकेशजी) जब मुझसे मिलने आए—तो उन्होंने ख़ुद अपनी एक बड़ी बात—जो 'श्रीकृष्णावतार' से सम्बन्ध रखती थी—मुझे सुनाई। उन्हों ने कहा—"उनका अधिकतर जीवन इंगलैण्ड में बीता है—हिन्दू धर्म की बातें वे जानते ही न थे; -इंगलैण्ड से जब लाहौर आए—

तो 'श्रीकृष्णावतार' देखने गए; दूसरे दिन सपत्नीक देखने गए; तीसरे दिन और रिश्तेदारों को साथ लेकर देखने गए; यहाँ तक कि १७ बार उन्हों ने यह नाटक देखा;—इसी दर्म्यान में उनके यहाँ 'श्रीकृष्ण' का चित्र भी आगया, 'गीता' भी आ गई, आरती पूजन भी होने लगा।"—राकेशजी ने बम्बई ही में—कई महीने लगाकर—उसी 'श्रीकृष्णावतार' को मुझसे 'फ़िल्मी रूप' में लिखाया है। पर—'आर्थिक अभाव' के कारण इस समय तक उसकी 'फ़िल्म' नहीं बनी है, मेरी अल्मारी में 'हस्तलिखित'कापी रक्खी हुई है। 'राकेशजी'की भाँति ही—दूसरे फ़िल्म निर्माता-श्रीजयगोपाल (मोहलेजी) को तो'श्रीकृष्णावतार' के कई दृश्य ही कण्ठ थे। महामहोपाध्याय श्रीगिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने जब यह नाटक देखा तो—राय दी—'कि यह चलता फिरता हुआ 'सनातनधर्ममण्डल' है'। उसी भावना से प्रेरित श्रीमहामहोपाध्यायजी ने उस के छपने पर—विस्तृत 'भूमिका' लिखी है। हिन्दी के प्रसिद्ध राष्ट्रकवि और नाटककार 'श्रीमाधव शुक्ल'--जिन्हों ने 'मशरिक़ी हूर' की भूमिका लिखी है इस नाटक को देखकर इतने प्रभावित हुए कि दूसरे दिन 'हठ' करके देखने गए। उन्हें राधा बने हुए एक नायक बालक--'अमृतलाल' (अमरतिया) का बोलना, चलना, हाथ उठाना, मुख की आकृति स्वाभाविक रखना—इतना भाया कि कहते थे—'ऐसा देखा ही नहीं'। यह 'श्रीमाधवशुक्ल'

तब 'राधेश्याम प्रेस' में रहते थे— महाभारत की कथाओं के दो प्रारम्भिक भाग उन्हीं ने लिखे हैं।

काशी के 'दैनिक आज' के सम्पादक 'श्रीबाबूराव पराड़कर' इस (श्रीकृष्णावतार) नाटक को देखकर—इतने प्रभावित हुए कि 'आज' में डेढ़ कालम का एक प्रशंसा का लेख अपनी लेखनी से लिखकर प्रकाशित किया। 'भाई कृष्णकान्त मालवीय' ने तो सदा ही इस (श्रीकृष्णावतार) को सराहा।

खुद 'न्यू अल्फ्रे़ड' में—हिन्दू ऐक्टरों पर—इस (श्रीकृष्णावतार) नाटक का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्हों ने कम्पनी में भी--रिहाइश की जगह--एक छोटे से सिंहासन पर 'श्रीकृष्णचित्र' रख लिया। रोज़ सुबह आठ बजे सब हिन्दू ऐक्टर आरती करके, चन्दन लगाके, रिहर्सल' में जाते थे।

मेरी बीमारी जब बढ़ती ही गई—तो 'माणिकशा' एक दिन मुझे देखने 'बरेली' ही आए। मैं ने यह भी अन्दाज़ लगाया—कि 'सती पार्वती' न खिलने पर—उन्हों ने जैसा व्यवहार किया था—'श्रीकृष्णावतार' की सफलता पर—वे अपने 'पराजित भाव' की लज्जा मिटाने—बरेली आए हैं। यह तो जानी और मानी हुई ही बात थी कि बोलने में 'कुछ भी बोल कर'—माणिकशा हृदय के—निर्मल' थे और हैं। वे एक जैण्टिलमैन, सद्गृहस्थ पारसी हैं। यद्यपि सन् १९३६ से अब तक—सन् १९५६ तक—पारिवारिक और आर्थिक

सम्बन्ध में--क़िस्मत उन्हें—उन के मन की सी सफलता नहीं दे रही है।

यह सब होने पर भी—मेरे हृदय का यह 'खटका' तो नहीं ही गया कि—मैं 'मासिक वेतन लेकर' 'नाटक' का काम करता हूँ। इसी'निजी घृणा'के कारण—बीमारी से अच्छा होकर भी—कई महीने कम्पनी में नहीं गया—शायद ७-८ मास तक नहीं गया। उस नहीं जाने के महीनों में—मेरी यह भी 'धारणा' बन गई थी कि 'बँधकर'—या किसी 'लालच में आकर'—या किसी की 'ख़ुशामद, में रहकर'—'कलाकार' का उत्थान नहीं है, पतन ही है। उसे तो 'स्वतन्त्रता'—'एकतन्त्र स्वतन्त्रता' ही चाहिए।

'श्रीकृष्णावतार' के समय में—एक बात मैंने और भी की थी—काम का बोझ बहुत होने के कारण—मेहर्बानजी से कहा—'मुझे एक असिस्टेण्ट लेखक' चाहिए। उन्हों ने कहा—'योग्यता के साथ साथ--उस का विश्वासी होना भी परमावश्यक है—अन्यथा तजुर्बा यह है कि--सब्जैक्ट--चोरी होकर--दूसरी कम्पनी में पहुँच जाते हैं।" इस पर मैंने अपने सगे अनुज 'मदनमोहन लाल' का नाम उनके सामने पेश किया। वे राज़ी होगए। 'मदन' का १००) मासिक निश्चित होगया—मेरी ही तरह—'स्वतन्त्र' रहकर। अर्थात कम्पनी के साथ न रह कर 'मेरे ही साथ' रहें—और 'मेरे लिखे मैटर' में

'राय' दें - उसकी 'कापी' आदि करें। भैया 'मदन' को मैंने लगाया तो अपने तीनों ही काम में है। सबसे पहले 'कथा-वाचकी' में;--अपने पड़ोसी प० माधवराम पुरोहित के साथ। 'बिहार प्रान्त' में--कई बरस तक उन्हों ने 'कथाएँ' कही हैं। फिर अपने ढंग की 'कथायें' भी उनसे लिखाई हैं। 'उत्तर रामचरित' के चारों भाग (जो मेरी रामायण के अन्त में लगे हुए हैं) उन्हीं के नाम से हैं, उन्हीं का अधिक परिश्रम उनमें है; और भी कई किताबें—राधेश्याम प्रेस में उनकी छपी हैं। अब नाटक में भी इस प्रकार उनको साथ लिया था।

आषाढ़ १९२७ ईस्वी की बात है--मैं अपने 'योगी गुरु' (श्रीसूरजबली) के घर--बिलग्राम--गया था। लौटकर जब हरदोई स्टेशन पर (मोटर से) आया तो स्टेशन मास्टर मुलाक़ाती निकले। उनसे मालूम हुआ कि 'न्यू अल्फ्रेड' की स्पेशल ट्रेन 'लखनऊ' जा रही है। अरे साहब, बात करते करते 'ट्रेन' सामने आ खड़ी हुई। वह 'फ़र्स्ट क्लास' का डिब्बा--जिसमें 'मेहर्बानजी' थे, मेरे आगे ही प्लेटफ़ार्म पर रुका। मुझे देखते ही 'मेहर्बानजी' उतरे और मुझे खींचकर 'डब्बे' ही में लेगए। इस प्रकार मुझे 'कम्पनी' के साथ लखनऊ जाना पड़ा। मेरी थकान या उदासी को--मेहर्बानजी अपनी बातों और बर्ताव से दूर करना चाहते थे। रास्ते भर ख़ूब 'ख़ातिर' हुई। लखनऊ पहुँच कर—कई महीने के वेतन का जो चेक रुका पड़ा था—वह भी मिला। 'नए नाटक' के

सम्बन्ध में भी राय क़ायम हुई—कि 'श्रीकृष्णावतार' ही का दूसरा भाग निकाला जाय। कलकत्ते के 'मैडन थिएटर्स' ने 'वीर बालक', 'प्रेमी बालक', 'धर्मी बालक', 'भारतीय बालक' नामों से 'बालक' नाम के नाटकों को निकालना शुरू किया था—उसी से मेहर्बानजी ने 'कृष्णचरित्र' के भागों का आइडिया (Idea) बनाया था। मैं ने भी यही क्रम पसन्द कर लिया। लखनऊ में जब मैं ने देखा कि हिन्दी के नाटकों की 'ग़लतियाँ' रात को खेल के समय –'मिस्टेकबुक' में ठीक नहीं लिखी जाती हैं—तो मैंने अपने एक विश्वासी शास्त्री जी (पाण्डेय रामतेज) को इस कार्य के लिए कम्पनी में रखा दिया। निश्चय ही कम्पनी में उनका काम 'सराहनीय' रहा, वे 'सर्वप्रिय' भी रहे। अबतो वे क़ाशी के एक नामी प्रकाशकों में हैं। उनका 'पण्डित पुस्तकालय' प्रसिद्धि प्राप्त कर रहा है।

अब मैं 'नाटक के सभी अंग' ज़्यादातर जान चुका था। अगला नाटक लिखने में देर नहीं लगी। १०-१२ दिन ही में 'पहला अंक' लखनऊ भेज दिया—'पार्ट' बँट गए। 'दूसरा अङ्क' लेकर मैं स्वयं गया—कम्पनी तब 'बनारस' (वाराणसी) थी। तीसरा अंक वहीं लिखा। 'निहालचन्द' (हारमोनियम मास्टर) तब 'छुट्टी' पर था—इस कारण--रेवाशङ्कर मारवाड़ी–नाम के–एक असिस्टेण्ट हारमोनियम मास्टर को 'साथ' बिठाकर 'तर्जें' भी स्वयं ही बना डालीं। मैं यह सब जल्दी जल्दी इसलिए कर रहा था कि

दशहरे (विजया दशमी) ही को इसे भी 'स्टेज' कर दिया जाय। आख़िर वह दिन आया। यों तो यह 'श्रीकृष्णावतार' का दूसरा भाग था—पर पहचान के लिए—इसका नाम (रुक्मिणी कृष्ण) 'रुक्मिणी मंगल' रख दिया। उन दिनों कलकत्ते से 'आग़ाहश्र' भी आए थे। कानपुर से 'वर्तमान' संपादक—रमाशङ्कर अवस्थी भी पधारे थे। बनारस में तब कई साहित्यिकों से मेरा परिचय बढ़ रहा था—घनिष्ठता भी बढ़ चली थी। जिन में से मुख्य थे—श्री परिपूर्णानन्द (उत्तर प्रदेश के वर्तमान् मुख्य मन्त्री श्रीसम्पूर्णानन्दजी के भाई) और 'श्रीकृष्णदेव प्रसाद गौड़', 'श्रीगोपालराम'—गहमरी। (जासूस सम्पादक) 'पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र' से तो कलकत्ते ही से ख़ूब मुलाक़ात थी। वे वहाँ 'मतवाला' में ख़ूब अच्छा लिखा करते थे। बड़े मिलनसार और दोस्त आदमी हैं। मालूम नहीं उन्हीं 'उग्रजी' को क्या हुआ !—'पहली ही रात'—'रुक्मिणी मंगल' देखकर अपने नाम से 'आज' में कटु 'आलोचना' निकाली। उस 'कटु आलोचना' में भी था क्या ? मैं तो पढ़कर बड़ी देर तक हँसा हूँ। "हमें पौराणिक नाटक नहीं चाहिएँ" बस ! इतनी सी बात थी और रँगा हुआ था—उनकी भाषा में 'आज' का डेढ़ 'कालम'। अन्त में 'गानों के बोलों' की तारीफ़ ही थी,– क्यों न होती—उसकी तो 'किताब' छप चुकी थी—और कम्पनी में खेल के समय बिकती थी। कुछ समय बाद—'उग्रजी' से जब भेंट हुई—तो बात को

छुपाकर—इतना ही कहा—'एक परिस्थिति' में मुझ से ऐसा हुआ था। क्या जानें वह 'परिस्थिति' क्या थी? खुली नहीं। इतना लिख दूँ कि—कई वर्ष बाद—मैंने स्वयं देखा कि उन्हीं 'उग्रजी' ने बम्बई की किसी फ़िल्म कम्पनी में अपना एक 'पौराणिक फ़िल्म' (राधाकृष्ण सम्बन्धी) ही निकाला—जो 'कमज़ोर' गया। ख़ैर, अख़बार की दुनिया में जब एक कटु आलोचना आ ही गई तो उत्तर भी जाना चाहिए था। उत्तर में—'श्रीपरिपूर्णानन्द—श्री गौड़जी आदि कई ने अपने लेख लिखे और 'आज' ही में छपे। छपा तो एक लेख 'आज'-सम्पादक 'पराड़करजी' का भी—नाटक देख कर—उन्हीं की लेखनी से। उसके बाद वह वातावरण ठण्डा होगया। पर कानपुर के एक मासिकपत्र में फिर किसी ने प्रसादजी के नाटकों की प्रशंसा और मेरे नाटकों की कमजोरी प्रकाशित की। भला प्रसादजी के साहित्यिक (कालेजों के कोर्स में विद्यार्थियों को पढ़ाए जाने वाले) नाटक और मेरे पारसी स्टेज पर अभिनीत होने वाले नाटकों का क्या मुक़ाबिला? हो सकता है कि—इस वातावरण के भीतर—हिन्दी के ग़रीब लेखकों की वह जलन हो जो मेरे मालदार हो जाने के कारण उत्पन्न हुई हो। फिर भी मैं तो 'चुप' ही रहा। सोचा—'काम किए जाओ।' 'बदनाम भी गर होंगे—तो क्या नाम न होगा?'

कम्पनी जब कानपुर आई तो विद्यार्थीजी (प्रताप सम्पादक) ने मुझे गले से लगाकर कहा—'अब तुम बहुत बढ़ गए'।

कानपुर ही में प्रसिद्ध कहानी तथा उपन्यासकार श्रीप्रेमचन्द जी मुझसे मिले। वे तब माधुरी के सम्पादक थे--'कानपुर' भी अक्सर आते जाते रहते थे। क्यों? यह ठीक तरह मालूम न हो सका। 'श्रीकृष्णावतार' और 'रुक्मिणीमंगल' देखकर वे बहुत ही प्रभावित हुए। ऐक्टरों के फ़ोटो खिंचवाए और माधुरी में एक सचित्र लेख—निकाला। इस में उन्हों ने अपना नाम 'नाटक प्रेमी' लिखा था—निश्चय ही वे 'नाटक प्रेमी' थे। इस लेख की सामग्री इकट्ठी करने में—'हिन्दी' ही नहीं—'गुजराती' पत्रों से उन्हों ने सहायता ली थी। 'श्रीविश्वम्भरनाथ कौशिक' से भी राय मिलाई थी—और कम्पनी के कुछ ऐक्टरों से। इसी लेख से मिलता जुलता एक लेख--बम्बई के गुजराती साप्ताहिक 'चित्रपट' में भी निकला है—किन्हीं 'चिम्मनलाल शाह' के नाम से। निकला तो प्रयाग के 'चाँद' में भी है। अपने 'ग़बन' उपन्यास में भी एक जगह—श्रीप्रेमचन्द ने यह लिखा है कि—"एक दिन 'मनोरमा थिएटर' में राधेश्याम का कोई नया ड्रामा होने वाला था, इस ड्रामे की बड़ी धूम थी, एक दिन पहले ही से लोग अपनी जगह रक्षित करा रहे थे।" ख़ैर।

उनकी 'माधुरी' के लेख को यहाँ ज्यों का त्यों दे रहा हूँ। यह 'माधुरी' (लखनऊ) के वर्ष ८ संख्या ६ में छपा है।

❀ हिन्दी रंग मंच ❀

एक समय था, जब भारतवर्ष में नाट्यकला की बड़ी उन्नति थी। यह हम उस समय की बात कह रहे हैं, जब यहाँ संस्कृत का पूरा प्रचार था, और 'उत्तररामचरित' तथा 'शाकुंतल' जैसे नाटक खेले जाते थे। अधिकतर इतिहासज्ञ तो यहाँ तक कहते हैं कि अन्य कलाओं की भाँति नाट्यकला की जन्मभूमि भी यही भारत भूमि है। नाटक के प्रथम आचार्य कोई भरत मुनि को बताता है, कोई लवकुश को। शंकर, नारद और हनुमान को तो सभी एक स्वर से मानते आए हैं। खैर, इधर कई शताब्दियों से और बातों के अधःपतन के साथ-साथ इस साहित्य का भी अधःपतन होना प्रारम्भ हुआ। संस्कृत का तो जिक्र ही क्या, हिन्दी तक मे—चंदबरदाई के समय से – कोई उल्लेख योग्य नाटक नहीं निकला। मुसलमानी शासन के अंत में और ईस्टइंडिया-कम्पनी के शासन के प्रारम्भ में, समुद्र पार से यह लहर नए रूप में यहाँ आई। भारत के दुर्भाग्य से अब तक यहाँ प्रान्तीय भाषाएँ चल रही हैं, उन्हीं भाषाओं में नाटक खेले जाने आरम्भ हुए। महाराष्ट्र तथा बंगाल वालों ने इसमें यथेष्ट उन्नति की, पर वह उन्नति कहलाई मराठी रंगमंच और वंगीय रंगमंच ही के रूप में, हिन्दी के रूप में नहीं। गुजराती नाटक वालों ने भी अपनी भाषा के नाटकों की भरमार की, और कितने ही अच्छे नाटक

निकाले, जिनको अदल-बदलकर आजकल के कितने ही हिन्दी-नाटककार हिन्दी में ला रहे है ! और अपने लिए इतना बड़ा परिश्रम करने के कारण महाकवि समझ रहे हैं। बरसों तक बेचारी हिन्दी का, उर्दू की यमुना से मिलकर वह रूपांतर रहा कि यह पहचानना कठिन होगया कि इस त्रिवेणी में कालिंदी का नील जल कितना और गंगा का स्वच्छ, श्वेत कितना है।

घूम-फिर कर व्यवसाय करने वाली कम्पनियों के बनाने में पारसी जाति ने इधर उत्तर-भारत की ओर अपना क़दम बढ़ाया। उन दिनों इधर न नाटक थे न नाटककार, गानों की प्रधानता थी, और-थीं ऊटपटाँग उर्दू ज़बान में लिखे हुए इन्दरसभा, हवाई-मजलिस जैसे इश्क़िया नाटकों की। हम अगर भूलते नहीं हैं तो हिन्दी नाटकों का श्रीगणेश करने का श्रेय सब से पहले स्वनामधन्य भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को प्राप्त हुआ। परन्तु उनके नाटक 'एमैच्योर क्लब' ही तक खिलकर रह गए, किसी व्यवसायी कम्पनी के रंगमंच पर नही पहुँचे। भला हो मुंशी विनायकप्रसादजी तालिब बनारसी का कि उन्होंने उन दिनों की विख्यात 'बालीवाला विक्टोरिया कम्पनी' को 'हरिश्चन्द्र', 'रामायण', 'कनकतारा', 'भर्तृहरि' आदि हिन्दी के ड्रामे सब से पहले लिख कर दिए और खिलवाए। इस ख़ूबी के साथ उन्होंने उन नाटकों में हिन्दी दी थी कि उर्दू-हिन्दी के सम्मिश्रण में, हिन्दी की चाशनी का

आनन्द भी नाटक-प्रेमी जनता को प्राप्त हुआ, और नाटक भी 'पास' हो गए। फिर कोई थोड़े ही वर्षों के बाद 'बेताबजी' का महाभारत, 'हश्रजी' का सूरदास, स्टेज पर आ गया। यद्यपि इन नाटकों की भाषा भी उर्दू-हिन्दी-मिश्रित थी, और इनका कथानक तथा इनके भाव, गुजराती के 'सती द्रौपदी' और 'बिल्वमंगल' के रूपान्तर थे, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि इन नाटकों को बड़ा मान मिला और पारसी कम्पनियों के मालिकों को यह अनुभव हुआ कि हिन्दी-नाटक निकालने चाहिए। उन दिनों के उर्दू नाटक ज़हरी-साँप और ख़ूबसूरत बला आदि को जब हम देखते हैं, तो इतना तो निःसंकोच कह सकते हैं कि प्रायः इस श्रेणी के समस्त नाटकों में गाने हिन्दी भाषा ही में ज्यादातर लिखे और गाए गए हैं। यह नहीं समझ में आता कि ऐसा क्यों हुआ, या तो गानों के बोल बनाने वालों की यह कमज़ोरी थी या हिन्दी के बोलों पर गाने बनाए जाने में जो मिठास थी, उसी के कारण ज़बर्दस्ती उसे यह पद प्राप्त हो गया। इसके बाद राधेश्यामजी का 'वीर अभिमन्यु' आया। हम समझते हैं कि इस से पहले इतने हिन्दीत्व का कोई नाटक पारसी कम्पनियों के स्टेज पर नहीं आया। इस नाटक का हास्यवाला भाग (कामिक) भी बड़ा शिक्षाप्रद और अश्लीलता से रहित था। यह उस ज़माने में पहली बार स्टेज पर आया जिस ज़माने में, कितने ही उर्दू के नाटककारों ने, ऐसे-ऐसे गन्दे कामिक स्टेज पर पहुँचाये

थे कि माताओं और बहनों को थिएटर में ले जाते हुए भी लज्जा आती थी। माता को स्त्री, और स्त्री को माता कहलाना तो उन दिनों के कुछ उर्दू नाटककारों का मानो धर्म हो रहा था। ख़ैर 'वीर अभिमन्यु' को पूर्ण सफलता मिली, महामना मालवीयजी तक ने इसे देखा और प्रशंसा की। इतना ही नहीं, जनता ने भी इसे उतना आदर दिया, जितना आदर इससे पहले के पारसी कम्पनियों के किसी नाटक को नहीं प्राप्त हुआ था। अर्थात पञ्जाब यूनिवर्सिटी ने इसे क्रमशः 'हिन्दी-भूषण' और 'इंटरमीडियट क्लास' कोर्स की पुस्तकों में पढ़ाए जाने के लिए चुना। अब तो हिन्दी की किशोरावस्था इन कम्पनियों में प्रारम्भ हो गई। उधर बाबू हरिकृष्णजी जौहर के 'पति-भक्ति'—'वीर भारत' और शैदाजी का 'नल-दमयन्ती' आदि स्टेज पर पहुँचे। उत्साह यहाँ तक बढ़ा कि हिन्दी-नाटकों को प्रधानता का पद देने के लिए, मेरठ से एक लिमिटेड कम्पनी 'व्याकुल भारत' के नाम से बन गई। निःसन्देह इस कम्पनी का 'बुद्धदेव' बड़ा सुन्दर और बड़ा उत्तम नाटक था। खेद है कि व्यवस्था ठीक न होने के कारण यह कम्पनी लिक्विडेशन में आ गई, और इसके परम प्रवीण और विद्वान् नाटककार व्याकुलजी का भी अकाल ही देहावसान होगया। यदि वे आज होते, तो उनसे हिन्दी को बड़ी आशाएँ थीं। 'व्याकुल भारत' ही में रहकर, 'वरमाला' के प्रसिद्ध लेखक 'पन्तजी' को नाटक लिखने का शौक़ हुआ, परन्तु खेद है

कि उन्हों ने स्टेज का नाटक न लिखकर साहित्य का (पाठ्य) नाटक लिखा। हमारी उनसे प्रार्थना है कि वह अब स्टेज के लिए नाटक लिखें, उन्हें इसका अनुभव भी है, उन से हमें इसकी बहुत आशाएँ हैं। इन्हीं दिनों काठियावाड़ से आई हुई 'सूरविजय' ने अपने सम्पूर्ण नाटक हिन्दी ही में आकर खेले। राधेश्यामजी ने वीर अभिमन्यु के बाद जो नाटक 'श्रवणकुमार' लिखा था, वह इसी कम्पनी को दिया था। श्रवणकुमार के बाद भी कई नाटक इन्होंने उस कम्पनी को दिए थे। खेद है कि आज वह कम्पनी भी नहीं रही। इस समय उल्लेख योग्य ये कम्पनियाँ हैं, जिनमें हिन्दी के नाटक खेले जारहे हैं, और जिनसे हिन्दी-प्रेमियों को और भी अच्छे नाटकों की आशा है—कलकत्ते की करिन्थियन, जिसके मालिक चरखारी महाराज हैं और जिसके नाटककार आग़ाहश्र हैं। मदन थिएटर की पारसी अल्फ्रेड, जिसके पहले स्वर्गीय कावसजी मालिक थे, और जिस में इस समय जौहरजी, शैदाजी नाटककार हैं। सुना है कि बेताबजी भी फिर इस कम्पनी के लिए कोई हिन्दी-नाटक दे रहे हैं। तीसरी कम्पनी है 'न्यू अल्फ्रेड' जो ३५ वर्ष से चल रही है, और जिसके भारत-प्रसिद्ध नट और डाइरेक्टर मि० सोराबजी ओग्रा हैं। यद्यपि अब वह रिटायर्ड हो गए हैं, तथापि वह इस कम्पनी का गौरव इतना बढ़ा गए हैं कि आज भी इसका नाम जनता में बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इस लेख में हमें

इसी कम्पनी के कुछ नाटकों की विशेष चर्चा करनी है, तथा इसी कम्पनी के उन नाटकों के कई चित्र भी हम दे रहे हैं। इस कम्पनी के मालिक हैं मि० मेहर्बानजी, मि० माणिकशाह और मि० फ़ामरोज़। एक चौथी कम्पनी भी है और वह हश्रजी की कहलाती है। कुछ दिन पहले उसका नाम 'ग्रेट शेक्सपियर कम्पनी' था, परन्तु अब कई मास से 'ग्रेट अल्फ़्रेड' रक्खा गया है। भगवान् ही जाने कि यह 'अल्फ़्रेड' नाम तीन-तीन कम्पनियों के साथ क्यों है, स्वर्गीय मि० अल्फ़्रेड की आत्मा को तो इससे हर्ष होता ही होगा, और चाहे किसी को हो या न हो।

हाँ,तो न्यू अल्फ़्रेड कम्पनी के हमने कितने ही नाटक स्वयं देखे हैं, हमारी राय ह कि इस समय, हिन्दी-नाटकों की दृष्टि ही से नहीं स्टेज की दृष्टि से भी यह कम्पनी आदर्श है। श्रीयुत राधेश्यामजी, जिनके नाटक इस कम्पनी में खेले जाते हैं, और मि० सोराबजी ओग्रा के रिटायर होजाने के बाद, जो स्वयं ही इसमें अपने नाटक स्टेज कर रहे हैं, निःसन्देह सफलता प्राप्त कर रहे हैं। वीर अभिमन्यु का ज़िक्र तो ऊपर आ ही चुका है, उसके अतिरिक्त राधेश्यामजी के 'प्रह्लाद', 'परिवर्तन', 'मशरिक़ी हूर' आदि सब वर्क एक-से-एक उत्तम हैं। इन नाटकों में आदर्श है, शिक्षा है, पवित्रता है, और है ओज, जिनका विशेष परिचय हम फिर कभी देंगे। आज

तो राधेश्यामजी के 'श्रीकृष्णावतार' और उसके दूसरे भाग 'रुक्मिणी-मंगल' का ज़िक्र करते हैं—

'श्रीकृष्णावतार' का प्रारम्भ नाटककार ने इस प्रकार किया है कि कंस के अत्याचारों से जब पृथ्वी काँप रही थी, संसार त्राहि-त्राहि कर रहा था, तब देवर्षि नारद, क्षीर सागर में भगवान् विष्णु को इसके लिए मजबूर कर देते हैं कि वह "धर्मसंस्थापनार्थाय" अवतार लें। नारद का भगवान् विष्णु से वार्तालाप बड़ा ही ओज-पूर्ण प्रभावशाली और दिल को हिला देने वाला है। उधर तो नारद भगवान को अवतार लेने के लिये मजबूर करते हैं, और इधर इस विचार से कि—"अत्याचार जितनी जल्दी सीमा पर पहुँच जायगा, उतनी ही जल्दी भगवान् मर्त्यलोक में अवतीर्ण होंगे"—कंस के ज़ुल्म को बढ़ाते हैं। तीसरी ओर कंस के ज़ुल्म से जब मथुरावासी उत्तेजित होते हैं, तो उन्हें शान्ति का पाठ पढ़ाते हैं। एक ही चरित्र में यह तीन तरह का चित्रण बड़ा ही सुन्दर है, और बड़ा ही अनूठा है। यह नारद का पार्ट करनेवाले महाशय भी अपने पार्ट को ख़ूब ही अदा करते हैं। नारद के बाद योगमाया का पार्ट है। योगमाया के पार्ट में लेखक ने उन सब बातों को लाकर रखदिया है, जिनका सम्बन्ध गुप्त संसार से है। यह पार्ट भी स्वाभाविक होता है, और इस पार्ट में जो गाने रक्खे गये हैं, वे तो एक नई जान नाटक में पैदा कर देते हैं, उन्हें गाया भी अच्छे ढँग से जाता

है। इन्हीं नारद और योगमाया का चित्र देखिए, कैसा स्वाभाविक है। इसके उपरान्त पहला अङ्क भगवान् श्रीकृष्ण के जन्म पर समाप्त होता है। दूसरे अङ्क में बालक श्रीकृष्ण स्टेज पर आते हैं, और क्रमशः अङ्क-समाप्ति तक गोचारण, कालियमर्दन, गोवर्द्धनधारण और रासमंडल आदि लीलाओं का दिग्दर्शन कराया जाता है। बालक श्रीकृष्ण की इन बाल-लीलाओं का क्या उद्देश्य है, किस लीला में क्या मर्म है, इसे लेखक ने बड़ी अच्छी तरह दिखलाया है। इस अङ्क में कोई तीस छोटे-छोटे बालक काम करते हैं, जिन में श्रीकृष्ण, मनसुखा और श्रीदामा के पार्ट सराहनीय हैं। राधा का पार्ट करनेवाला बालक तो अपने नाम का जवाब नहीं रखता। राधा और कृष्ण का प्रेम-सम्बन्ध कितना पवित्र है, यह बड़ी अच्छी तरह इसमें दिखलाया जाता है; कहीं भी, नाम मात्र को भी अश्लीलता और बुरी भावना दर्शकों के हृदय में नहीं आने पाती, बल्कि उस परम-प्रेम का बड़ा ही पावन रूप सामने आकर खड़ा हो जाता है। कदम्ब के नीचे गोप-गोपियों के साथ खड़ी हुई युगल छवि के चित्र का अवलोकन कीजिए—यह दूसरे अङ्क का दूसरा सीन हमारी राय में इस नाटक का सर्वोत्तम सीन है। तीसरे अङ्क में कंस-वध है। पहला अङ्क राजनीति से पूर्ण है। दूसरा भक्तों की नस-नस से भक्ति का स्रोत बहा देने वाला है और तीसरा वीरता का सजीव चित्र सामने लाकर रख देता है, जैसा कि 'कंस-वध' के चित्र को देखकर आप कल्पना कर सकेंगे।

इस चित्र में आए हुए नट वसुदेव, बलराम, देवकी और उग्रसेन सभी अपने-अपने पार्ट ख़ूब अदा करते हैं, सीन-सीनरी तो इतनी अच्छी दिखाई जाती है कि देखनेवालों का कहना है कि अबतक ऐसी नहीं देखी। यहाँ पर कम्पनी के पेण्टर मि० वासुदेव दिवाकर, की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जाता। निःसन्देह छोटी-सी उम्र ही में आपने इस आर्ट में कमाल हासिल कर लिया है। नाच भी अपने-अपने स्थान पर अच्छे हैं, जिन्हें तैयार करने में कम्पनी के नाचमास्टर श्रीयुत नर्मदाशङ्कर ने यथार्थ में परिश्रम किया है। पोशाकें भी ठीक हैं। सब मिलाकर स्टेज इतना सजा हुआ रहता है कि दर्शक बारम्बार देख-देखकर भी नही अघाते। हमने स्वयं इस विषय का इससे अच्छा नाटक कहीं नहीं देखा।

'श्रीकृष्णावतार' ने जब समस्त पञ्जाब और संयुक्तप्रान्त में अपनी धूम मचा दी, तो राधेश्यामजी ने 'रुक्मिणी-मङ्गल' के नाम से इस पावन चरित्र का दूसरा भाग स्टेज किया। निःसंदेह यह दूसरा भाग पहले भाग से बहुत बढ़ा-चढ़ा है। भाषा की दृष्टि से, भावों की दृष्टि से, चरित्र-चित्रण की दृष्टि से, नाच और गानों की दृष्टि से इसने पहले भाग को भुला दिया है। हमारी सम्मति है कि जिन्होंने यह नाटक नहीं देखे हैं वे पहली बार दूसरा भाग न देखकर पहला भाग देखें। पहला भाग देखकर वे जब आश्चर्यान्वित रह जाएँगे तब दूसरा भाग उन्हें वह आनन्द देगा कि जो पहले भाग के आनन्द को भुला देने-

वाला होगा। इस दूसरे भाग में—जरासन्ध से युद्ध, कालयवन का भस्म होना, रुक्मिणी का श्रीकृष्ण-प्रेम और अन्त में रुक्मिणी-हरण तथा प्रद्युम्न का शंबरासुर को मारकर द्वारका आना दिखाया जाता है। राधा-कृष्ण का वास्तविक नाता क्या है, यह अन्तिम सीन के एक ठठोलीवाले दृश्य में बड़ी ही योग्यता से अङ्कित किया गया है—श्रीकृष्णावतार में जैसे नारद का चरित्र लेखनी की दृष्टि से बड़ा योग्यतापूर्ण है, उसी प्रकार इसमें रुक्मिणी की भाभी,—रुक्म की स्त्री, सुलेखा का चरित्र बड़ा ही प्रभावशाली है, और वह सब कवि की कल्पना, कवि की प्रतिभा और कवि की अपनी उपज है। इस रुक्मिणीमङ्गल में तो सुलेखा ही का चरित्र क्या, जिस चरित्र को भी लेखक ने लिखा है खूब ही लिखा है। इसमें सबसे अच्छा पार्ट रुक्म का, श्रीकृष्ण का, रुक्मिणी का, सुलेखा का और रुक्मिणी की माता प्रभा का होता है। नारद, योगमाया और राधा का पार्ट करनेवाले वही नट इसमें भी पार्ट करते हैं, जो श्रीकृष्णावतार में करते हैं, इस दूसरे भागमें हम सबसे अच्छे कई दृश्य देखते हैं, एक तो राधा-उद्धव के सम्वाद का, दूसरा भीष्म के दर्बार का,तीसरा रुक्मिणी-रुक्मी और प्रभा के सम्वादवाला, चौथा शिशुपाल के दूल्हा वेषवाला, पाँचवाँ रुक्मिणी-हरण वाला, जिसका चित्र दिया जारहा है। इस दूसरे भाग की सीनरी भी बड़ी उत्तम है, इसमें ड्रेसें भी बड़ी अच्छी और उपयुक्त हैं। नाच भी अच्छे हैं। सबसे अच्छा नाच, नाटक

के संसार में पहली बार स्टेज पर आनेवाला, संस्कृत के बोलों का नाच है। इस नाच में २४ लड़के काम करते हैं। अबतक संस्कृत बोलों का नाच किसी कम्पनी में नहीं निकला। गाने इस दूसरे भाग के पहले भाग से बहुत आगे बढ़े हुए हैं, और उनकी तर्जें भी बड़ी ही अच्छी हैं। हमारी राय में ऐसे गाने किसी कम्पनी में और किसी नाटक में अबतक नहीं आए।

प० राधेश्यामजी स्वयं भी एक बड़े अच्छे नट हैं, कारण कि उन्होंने अपनी सारी उम्र कथाओं के कहने में बिताई है। अतएव यदि वह स्टेज पर स्वयं पार्ट करने लगें, तब तो संयुक्त-प्रान्त को भी इस बात का गर्व हो जाय कि हमारे यहाँ भी एक गिरीश, शिशिर बाबू या दानी बाबू जैसा नट है। प० राधेश्यामजी गाने में और तर्ज़ बनाने में तो कुशल ही हैं, उर्दू का "मशरिक़ी हूर" लिखकर आपने उर्दू नाट्य-जगत् में भी एक क्रान्ति पैदा की है। हमने पण्डितजी का चित्र भी इस लेख में, बड़ी श्रद्धा के साथ दिया है।

प० राधेश्यामजी का विचार क्रमशः सम्पूर्ण श्रीकृष्ण-चरित्र को स्टेज कर देने का है। भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें सफल प्रयास करें। यह भी सुना है कि तीन-चार वर्ष से वह 'सती-पार्वती' नाम का भी एक नाटक इसी कम्पनी के लिए लिख रहे हैं, जो आधे से ज्यादा लिखा जा चुका है, और जिसकी बाबत यह सुनने में आया है कि ऐसा नाटक आजतक न कहीं लिखा गया और न स्टेज ही हुआ।

रुक्मिणीमंगल के पश्चात् तो मैंने—'न्यू अल्फ़्रेड' के स्टेज पर 'श्रवणकुमार' ही निकाला। 'सूर विजय' के अपने 'श्रवणकुमार' को कुछ 'संशोधित' करके। क्योंकि 'सूरविजय' का 'श्रवणकुमार' मेरे १७-१८ दिन का परिश्रम था; उसे और एक नज़र से देख लेना ज़ुरूरी था। इन दिनों मैंने 'सूर विजय' के डाइरेक्टर 'भगवान् जी भाई' को भी अपने साथ रक्खा है। वे मुझे 'गुरुवत्' मानते रहे हैं। अच्छे आदमी हैं। अब तो काठियावाड़ (सौराष्ट्र) ही में कहीं उन्हों ने 'होटल' खोला है। 'सूर विजय' तो इस दर्म्यान में टूट ही चुकी थी। टूटने का प्रधान कारण था—उसके एक मालिक 'दुर्लभराम रावल' का स्वर्गवास। 'थिएटर कम्पनियों' के चलने चलाने की बात बहुत ही 'कठिन कार्य' है। 'स्टेज' का उचित प्रबन्ध, ऐक्टरों की मिज़ाजदानी, अच्छे नाटक लिख लिखा कर स्टेज करने कराने के अतिरिक्त 'बाहर का प्रबन्ध' भी 'बड़ा ख़ास काम' है। 'पब्लिसिटी' ठीक हो, सामान की निगरानी ठीक रहे, आग लगने की बात से पहरेदार 'सचेत' रहें, 'टिकट बिक्री' के घर में 'ग़बन' न हो, गेट पर खड़े रहने वाले कर्मचारी 'बेईमान' न हों। 'मैनेजर' ऐसा न हो—जो दर्शकों से रुपये ले लेकर अपनी जेब में डाले और उन्हें 'क्लासों' में सिर्फ़ ज़ुबानी हुक्म दे देकर बिठाला करे—आदि आदि। 'स्टेज के प्रधान नट श्रीलवजी भाई' जब अकेले रह गए—तो भीतर और बाहर

दोनों जगह का प्रबन्ध वे न कर सके, उस अवस्था में उन पर बड़ा 'बोझ' पड़ा, बीमार होगए। 'कम्पनी' तोड़ देनी पड़ी। अब 'लवजी भाई' बाँकानेर (सौराष्ट्र में) बर्तन के बड़े व्यापारी हैं। उन्हों ने वृद्धावस्था में 'व्यापारी जीवन' बनाकर उचित ही किया है, क्योंकि यह जानी और मानी हुई बात है कि नटों का 'बुढ़ापा' अच्छा नहीं बीतता है। इस 'जीविका' में यह 'कमज़ोरी' है और ज़ुरूर है।

'श्रवणकुमार' मैंने दिल्ली ही में 'स्टेज' कराया है। इस बार 'न्यू अल्फ़्रेड' ने दिल्ली में (जहाँ अब 'लाजपतराय मार्केट' है) अपना ही स्टेज 'टीन' डलवा कर बनवाया था। 'स्टेज' बनवाने के काम में भी मैंने इस बार अपना 'ज्ञान' बढ़ाया था। 'न्यू अल्फ़्रेड' के रंगमंच की चौड़ाई (स्टेज और 'विंग्ज़' का स्थान मिलाकर) ७० .फ़ुट रहती थी और लंबाई रहती थी ६० .फ़ुट—'ड्रेस' रूम की जगह उस से अलग होती थी। हाउज़ (दर्शकों की जगह) की लम्बाई ११५ .फ़ुट रहती थी और चौड़ाई ६० .फ़ुट। स्टेज के बीच में एक कुआँ भी रहता था—जिसका रास्ता 'सुरंग' बना कर भी रक्खा जाता था, 'बिजली' की रौशनी 'भीतर' रहती थी। 'पृथ्वी' में धँस जाना, या 'पृथ्वी' से निकल आना इस 'कुँयें' द्वारा होता था। 'देवी'—'देवताओं' का 'प्रकट' होना या 'अन्तर्द्धान' होना तो इस 'कुँयें' द्वारा ही प्रायः रक्खा जाता था। उसके

अतिरिक्त एक मेशीन भी ऐसी रहती थी कि जिस पर बिठाकर पार्ट करनेवाले को ऊपर उठाया या नीचे गिराया जाता था। मेशीन घुमानेवाला-मेशीन के पीछे से छुपकर मेशीन घुमाता था।

'ड्राप सीन' के पास 'स्टेज मैनेजर' रहता था—वह एक 'चक्करी' घुमाया करता था—जो लकड़ी की—पहियेनुमा होती थी—और जिस की आवाज़ ऐसी निकलती थी—मानो कोई चीज़ 'फट' रही है। 'सीन ट्रान्सफ़र' के समय यही 'चक्करी' घुमाई जाती थी। 'स्टेजमैनेजर' ही ड्राप सीन उठाने गिराने की 'घण्टी' भी बजाया करता था।—'डोरवाली हल्की सी घण्टी' का सम्बन्ध रंगमंच के ऊपरवाले—बाँसों के मचान से भी-रहता था-जहाँ 'पर्दा खींचने और गिरानेवाले' एक दो आदमी हाज़िर रहते थे—'स्टेज मैनेजर' की 'घण्टी' पर ही वे पर्दे उठाने-गिराने का 'काम' करते थे। उन हाज़िर रहने वाले कर्मचारियों की नौकरी भी बड़ी ज़िम्मेवारी की थी। बिजली का एक ऐसा स्वीच भी 'स्टेज मैनेजर' के पास रहता था—जिसका बटन दबाते ही—'हारमोनियम मास्टर' के आगे एक हल्की सी बत्ती जल जाती थी—कि 'गाने की तर्ज़' शुरू करो। या इस गाने की 'वन्समोर' दी जाती है—फिर 'गाना' होने दो। 'स्टेज मैनेजर' ही प्रत्येक 'नट' की 'पोशाक'—'बाल'—'पेंटिंग' आदि देखा करता था,—अपनी वेष भूषा स्टेज मैनेजर को दिखा कर ही—'नट' स्टेज पर जाता था। एक 'मिस्टेक' नोट करने वाला

कर्मचारी' भी स्टेज मैनेजर के पास बैठता था, जो स्वयं भी—तथा 'स्टेज मैनेजर' की आज्ञा से भी—'मिस्टेकबुक' में ग़लतियाँ लिखा करता था। उस रात की लिखी हुई ग़लतियाँ—वही नाटक जब फिर किसी रात को होता था—तो दिन की रिहर्सल में—'डाइरेक्टर' ठीक करता था; या ऐक्टरों से जवाब तलब करता था। 'नाटक' की हस्तलिखित 'किताब' रात को थिएटर में नहीं रहती थी, और न 'प्राम्प्ट' ही दिया जाता था। फिर भी 'स्टेज मैनेजर' को सम्पूर्ण नाटक 'कण्ठस्थ' ही होता था। यदि ऐक्टर इतना भूले कि चालू खेल में 'भद्द' होने की नौबत आजाय तो वह स्टेज मैनेजर, अपनी याददाश्त से 'प्राम्प्ट' देता था; पर उसके बाद—फिर कभी वह नाटक हो तो—उस ऐक्टर का 'पार्ट' ही छिन जाने की नौबत आ जाती थी—या वह बहुत ही 'शर्मिन्दा' होकर क्षमा माँगे—तो 'डाइरेक्टर' क्षमा भी कर देता था। इस तरीक़े का असर यह था—कि 'ऐक्टर' से ऐसी ग़ल्ती होती ही नहीं थी। हो तो पार्ट जाय, पार्ट गया तो पोज़ीशन गई। पोज़ीशन गई तो नौकरी ख़त्म। 'स्टेज मैनेजर' का यह सभी काम—तथा रिहर्सल में असिस्टण्ट डाइरेक्टर का काम—एवं—सीनरी, ड्रेस और नाच सम्बन्धी काम—सोराबजी के समय में भोगीलाल ने किया है, और मेरे ज़माने में नर्मदाशङ्कर त्रिभुवन नायक ने। इस पद की भी कम्पनी में 'शान' रहती है—सभी स्टेज का स्टाफ़ इसके हाथ में रहता

है। इससे ऊपर डाइरेक्टर का पद है और फिर उससे भी ऊपर मालिक का। पर सोराबजी का मान तो मालिक ही के समान था। उन्हीं के डाले हुए 'ढर्रे' का लाभ मुझे भी मिला। मालिक लोग मेरे काम में 'दख़ल' ही नहीं देते थे—मैं उन से कोई बात कहता था तो बग़ैर 'ननु, नच' किए वैसा ही करते थे। एक बार 'प्रह्लाद' देखने जब 'महामना मालवीयजी' पधारे थे—तो उनके बराबर—'ख़्वाजा हसन निज़ामी' भी थे। 'ख़्वाजा साहब' तो 'प्रह्लाद' देखने प्रायः ही आजाते थे—रोया भी करते थे—'प्रह्लाद' के 'वहदताना रँग' का उन पर काफ़ी असर पड़ा था। मेरी उनकी घनिष्ठता भी—इसी सम्बन्ध के कारण हो गई थी—उन्हीं के पास मालवीयजी के बराबर मुझे उस दिन बैठना पड़ा था। बीच में कई बार आतिथ्य संबंधी वस्तुएँ मँगाने का आर्डर 'मेहर्बानजी' को पुकार पुकार कर मुझे देना पड़ा था—तब मालवीय जी ने कहा—"तुम इनके नौकर हो या यह तुम्हारे ?" मैंने हँसकर कहा—'हमारा आपस में नौकर-मालिक का सम्बन्ध नहीं है—'भाई' जैसा सम्बन्ध है।' सीधी बात तो यह भी थी कि 'कम्पनी' को आगे बढ़ाने की मेरी सच्ची धुन और सच्ची सेवा का ही यह असर था कि 'मालिकान' मुझे इतना मानते थे। इसके अतिरिक्त उन्हें यह भी 'भय' रहता था कि 'कथावाचक' को आमदनी की कमी नहीं है, हमारे

किसी ग़लत बर्ताव से यह 'रूठकर' कम्पनी छोड़ गए तो हमारी 'बड़ी हानि' होगी। खासकर 'मेहर्बानजी' तो शत प्रतिशत ऐसे ही बन चुके थे। फिर मेरी संरक्षकता में रहकर उनके रूम में रहनेवाला—'नर्मदा शङ्कर' भी 'नाट्यकला' खूब सीख रहा था और 'तरक्क़ी' कर रहा था।

मई १९२८ ईस्वी में यह 'श्रवणकुमार' स्टेज हुआ है। इसके प्रारम्भिक उद्घाटन को—मेरी प्रार्थना पर—आर्यजगत् के विख्यात नेता—श्रीइन्द्रजी विद्यावाचस्पति पधारे थे। उनकी कृपा तब से आज तक मुझ पर 'यकसाँ' रही है। न जाने 'दिल्ली के जलवायु'—'दिल्ली की जनता' का मुझसे सम्बन्ध क्यों अधिक से अधिक 'मधुर' रहा है; समझ में नहीं आया कि—'ग्रह' ऐसे क्यों मिले?—दिल्ली के सभी समाचार पत्रों ने—'अर्जुन' हो या 'तेज'-'हिन्दुस्तान' हो या 'वतन' 'हिन्दुसंसार' हो या 'महारथी'—सभी में—मेरे नाटकों की भूरि भूरि प्रशंसा निकलती रही है। मेरा एक बड़ा ट्रङ्क—उनके 'कटिंग्स' से भरा हुआ—अब भी मेरे यहाँ है। यहाँ उस सबको देना—एक 'बोझ' ही बढ़ाना है। 'नाटक' ही क्यों? मेरी 'कथा' पर भी तो वहाँ की जनता इतनी दीवानी रही है कि एक दिन—लक्ष्मीनारायण की धर्म-शाला में 'नवल प्रेम सभा' के उत्सव में—सनातन धर्म के धुरन्धर वक्ता—'महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा, कविरत्न अखिलानन्द आदि का—भाषण ही उसने नहीं होने दिया। जब

कोई विद्वान् आए—तभी तालियाँ बजा बजाकर लोग पुकारें कि 'राधेश्यामजी' को 'मंच' पर भेजिए। इस 'तरीक़े' को मैंने बड़ा अनुचित समझा—क्योंकि मेरे हृदय में तो उपरोक्त विद्वानों का सदा महान आदर रहा है और आज भी है। पर दिल्ली की जनता ऐसी ही है—यह बताने को मैंने इतना लिखमारा है। उसी जनता को—उसी अवसर पर—मंच पर आकर—हाथ जोड़कर—मैंने समझाया कि—"मुझसे प्रेम है तो मैं यह 'प्रेमदान' माँगता हूँ कि विद्वानों का आदर करना सीखिए। रही मेरी कथा की बात—सो मैं आप सबको 'वचन' देता हूँ कि अब बरेली तभी लौटकर जाऊँगा जब २५ दिन तक—पूरी रामायण आपको सुना दूँगा। मुझे इस वचन के पालन में—बाज़ार सीताराम में अपनी यह कथा कहनी पड़ी है। वहाँ मेरे मित्र बने—'हकीम मदनलाल साहब'-जिनसे आज तक मित्रता है। मेरे 'स्वास्थ्य' पर उन्होंने सदा ही ध्यान रक्खा है।

'मातृपितृभक्ति' का 'आदर्श'—'श्रवणकुमार' जब दिल्ली में दुबारा (संशोधित रूप में) स्टेज हुआ—तब भी दिल्ली वालों ने उसे उसी उत्साह से अपनाया—जैसे पहले (सूरविजय में) अपनाया था। यह तो सब अच्छा ही हुआ पर—एक (घरेलू) घटना बड़ी दुःखद हुई। बरेली में तब 'प्लेग' की बीमारी चली,—मेरी माताजी (श्रीमती रामप्यारी देवी) उस (प्लेग) की शिकार होगईं। मुझे 'टेलीफ़ोन' मिला। मैं

भागा। पर बरेली उस समय पहुँचा जब उनका दाह-संस्कार हो चुका था। यह अच्छा था कि मेरा सहोदर 'मदन' बरेली ही था;—'श्रवणकुमार' स्टेज होते ही – मैं ने 'मदन' को बरेली भेज दिया था—कि 'माता पिता' को दिल्ली हो ले आओ—बरेली में 'प्लेग' शुरू हुआ है। पर दिल्ली न आकर माताजी बड़ी जल्दी 'परमधाम' चली गईं। 'दाहसंस्कार' 'मदन भैया' ही ने किया। बरेली आकर पिताजी से मैंने कहा—"मुझे यह शोच रह ही गया - कि मेरे अच्छे दिन अब शुरू हुए थे – मैं माताजी की—'जी भर' कर सेवा करने का इच्छुक था—वह न कर सका। वे बड़ी जल्दी 'परलोक' चली गईं।"

कई वर्ष पहले—घर में—मेरी पसन्द के ख़िलाफ़—एक घटना—घटी थी। मेरी स्त्री (कलावती) की उन से—अपनी सास से—नहीं पटती थी—स्त्री के बहुत रोने धोने पर मैं ने उसे दूसरे मकान में—उसी 'चित्रकूट वाले महल' में लाकर रक्खा था;—माताजी-पिताजी के साथ 'बीबी रुक्मणी वाले मन्दिर' ही में रहीं—उन्हों ने उसे नहीं छोड़ा। तब मैं ने ६०) मासिक माता जी का और १००) मासिक पिताजी का जेबख़र्च क़ायम कर दिया। १५०) मासिक अपनी स्त्री का भी। यह प्रबन्ध इस लिए किया था कि मैं तो प्रायः बरेली के बाहर ही रहता था—'नित्य का ख़र्च' यह सब स्वयं ही 'अपने मन का' करें। 'मदन भैया' का विवाह तो मैं कर ही चुका था—वह पत्नी

सहित उसी 'रुक्मिणी मन्दिर' में—माता पिता—के साथ रहता था—आज तक भी वहीं रह रहा है।

हाँ तो मैं ने 'पिताजी' से जब अपने मन का 'पश्चात्ताप' कहा—तो उन्हों ने कहा—कि—"यह तो स्वाभाविक ही है—कि तुम्हें रह रहकर माता की 'हूक' उठती है; पर तुम्हारी तरफ़ से—तुम्हारी माँ निश्चिन्त थी—ख़ुश भी थी कि तुम कमाने लगे हो। उसे तो 'मदन' की फ़िक्र थी—कि 'मदन'—'राधेश्याम' नहीं बना, यद्यपि तुम ने उसे 'कथा' सिखा दी, 'कविता' सिखा दी और अब नाटक कम्पनी से भी १००) मासिक दिला रहे हो। फिर भी वह स्वयं अभी तक अपने पैरों पर नहीं खड़ा हुआ।

मैंने उस समय—पिताजी के चरण छूकर—कहा कि—'माता' नहीं है—पर 'पिता' तो हैं—पिताजी, मैं 'प्रतिज्ञा' करता हूँ कि 'मदन' को अपने जीवन भर, 'पुत्र समान' ही समझूँगा।" यह बात लिखते हुए—इस समय भी—मेरे 'नेत्र' भर आए हैं। तब से अब तक मेरा ऐसा ही 'व्यवहार' उसके (मदन के) साथ रहा है। इस व्यवहार के कारण मैं ने अनेक कष्ट भी उठाए हैं। मेरे 'पारिवारिक मतभेद' की जड़ में यही घटना है। मेरी स्त्री को मेरा यह 'रवैया' नहीं भाया;—और अन्त तक नहीं भाया—ख़ैर अब तो वह भी (मेरी स्त्री भी) न रही। ईश्वर से प्रार्थना है कि भविष्य में—मेरे

परिवार में—किसी को ऐसा सङ्कट न उठाना पड़े—और सब में 'एका' रहे।

उसी साल—क्वाँर के महीने में—कम्पनी जब 'पेशावर' थी—तो मैं 'तफ़रीहन' चला गया। 'श्रवणकुमार' खूब चल रहा था। मेहर्बानजी बड़े प्रसन्न थे—कम्पनी के सब 'दरिद्र' धुल चुके थे, 'फ़ण्ड' में काफ़ी रुपया था, एक 'कार' भी लेली थी, मालिक लोग 'ठाट' से रह रहे थे। मैं ने उस 'कार' पर खूब सैर की, 'कोहाट' गया, 'ख़ैबर घाटी' भी दुबारा गया, वहाँ एक 'पार्टी' भी हम सबकी हुई। एक शाम को मेहर्वानजी ने मुझ से कहा—"अब कौन-सा 'खेल' निकालोगे?" मैं ने स्वाभिमान के साथ—उनसे कहा—"अब आप जो कहें—वही निकालूँ; एक 'खेल' आपकी 'फ़र्माइश' का लिखूँगा। मेरा दिल मुझ से कह रहा था—'स्टेज' की सभी बातों का अब मैं जानकार हूँ। अपने हर एक 'ऐक्टर' की 'नेचर' भी अच्छी तरह जानता हूँ। 'स्टेज' और 'ऐक्टरों की नेचर' ख़याल में रखकर—अब जो भी—'खेल' निकालूँगा—सौ फ़ी सदी 'पास' होगा। और दो तीन महीने ही में खेल लिखकर—'सीन'—'गाने'—'नाच'—'उच्चारण'— 'ऐक्टिंग' सब चौकस करके—'खिलवा सकता हूँ।"

मेहर्बानजी को भी मुझ पर अब—इससे कहीं ज़्यादा—'भरोसा' था। उनके किसी बम्बई वाले मित्र ने—'अम्बरीष' का सब्जेक्ट उनके कान में किसी समय डाला था—

'गुजराती' में वह ख़ूब चला था। वह उन्हें 'स्मरण' था—उन्हों ने उसी का 'फ़र्माइश' की। मैं ने बड़े चाव से उसे स्वीकार किया। 'श्रीमद्भागवत' की वह एक कथा थी—उसे नाटक में लाने में मुझे ज़्यादा सोचना नहीं पड़ा। उसका 'प्लाट'—वहीं बना कर—मेहर्बानजी को सुना दिया, ऐक्टरों के 'पार्ट' भी निश्चित कर दिए। यहाँ मेहर्बानजी की एक बात के लिए—मैं तारीफ़ करूँगा। 'नर्मदाशङ्कर' 'वीर अभिमन्यु' का पार्ट करने के बाद—अब नहीं चाहता था कि 'लेडी-पार्ट' करे। मैंने उसके लिए 'अम्बरीष' की पत्नी 'पद्मा' का 'पार्ट' तजवीज़ किया था। उसने मेहर्बानजी से प्रार्थना की कि—आप 'पण्डितजी' पर ज़ोर डालकर मेरा पार्ट—अम्बरीष के भाई 'मणिकान्त' का करा दें—मेहर्बानजी ने उससे स्पष्ट कह दिया—"मैं ऐसा नहीं करूँगा, तुम्हारे वेतन में १००) महीना आज से बढ़ाता हूँ—इसका मुझे अधिकार है—परन्तु 'पार्टों' के सम्बन्ध में पण्डितजी को ही 'सर्वाधिकार' है।" यह बात यहाँ मैं इस लिए लिख रहा हूँ—कि कम्पनी के मालिक लोग—लेखक और डाइरेक्टर को—इसी भाँति 'आज़ादी' और 'छूट' देकर ही—अच्छा नाटक लिखवा और खिलवा सकते हैं। मेरे बाँटे हुए पार्ट—आख़िर तक क़ायम रहे। 'मदन भैया' को पास बिठाकर—पहला अङ्क तो मैं बहुत ही तड़ातड़ी में पूरा कर चुका था—उसके पार्ट भी बाँट चुका था—श्रीरामतेज शास्त्री (मिस्टेक इंचार्ज)

के सुपुर्द यह काम किया कि वे 'रिहर्सल' में ऐक्टरों को पढ़वाते रहें। पढ़वाने का काम भी अब भारी नहीं रहा था— 'ऐक्टर' सब उच्चारण की 'कला' और 'हिन्दी बोलना' जान चुके थे। इतना काम होने के बाद मैंने 'पेशावर' छोड़ा।

'कम्पनी' सन् १९२९ के शुरू में जब 'देहली' आई—तो २-३ दिन को देहली जाकर—'दूसरे अंक' के पार्ट भी मैं बाँट आया, और वासुदेव (पेण्टर) तथा मोहम्मद अली (दर्ज़ी) को 'सीनरी' और 'ड्रेसों' का सब आइडिया (Idea) दे आया।

'नाटक' लिखना जब मेरे लिए 'भारी' नहीं था, तब ? अपनी दिलचस्पी उसमें ज़्यादा बढ़ाने के लिए—किसी न किसी नवीन रँग में नाटक रँगने की बात सोचने लगा। एक रँग ध्यान में आया—यह कि हीरो से विलेन को आगे बढ़ाया जाय। किसी भी नाटक का 'नायक' तो स्वयं ही आगे बढ़ता है-नायक के विरोधी को उससे आगे बढ़ाना-'टेढ़ी खीर' है। फिर नायक की पत्नी से विलेन (Villain) की पत्नी को भी उस से आगे बढ़ाना—और भी ज़्यादा 'मग़ज़ मारी' का काम है। पर मैं उसमें 'जूझ' पड़ा। यह मेरा 'शौक़' ही था। 'पार्ट' करने वाले ऐक्टर भी सभी मेरे मन के थे—यह भी एक 'विश्वास' था। 'नायक'—अम्बरीष—बना था—'चौबे रामकृष्ण' (श्रीकृष्णावतार का 'नारद'), उसकी पत्नी—

नायिका—(पद्मा) का 'पार्ट' था 'नर्मदाशङ्कर' का। दोनों जाने और माने हुए ऐक्टर थे। पर—मैं दूसरे दो ऐक्टरों को भी जान और मान रहा था—'नन्दकिशोर' और 'फ़िदा हुसैन' को। उन्हीं को मैंने 'विलेन' बनाया था। 'नन्दकिशोर' 'मणिकान्त' था और उसकी पत्नी (उमा) 'फ़िदा हुसैन'। निश्चय ही इन दोनों ने मेरी—ज़िद्दी लेखनी के रँग में—दर्शकों को ख़ूब ही डुबोया। मणिकान्त और उमा जब 'सन्यासी'—'सन्यासिनि'—होते हैं—तब स्वयं मेरा 'मदन भैया' ऐसा खो गया कि नाटक ख़त्म होने के बाद - कितनी ही देर तक—एकान्त में—यमुना के घाट पर—ध्यानावस्थित रहा।

'नाभाग' का पार्ट 'मुंशी रियाज़' ने और उनकी दूसरी पत्नी 'सुकेशी' का पार्ट 'पशा—पुरुषोत्तम' ने भी ख़ूब ही अच्छा किया। उसी तरह 'शाकिर भाई' ने 'दुर्वासा' का और 'शान्ति' ने 'रुद्रदत्त' (दुर्वासा के चेले) का।

भगवान् विष्णु का—गंगाप्रसाद गवैया' ने और 'गरुड' तथा 'सुदर्शन' का 'मगनलाल' और दूसरे 'गंगाप्रसाद शर्मा' ने किया। 'विष्णु' के पार्ट के तीनों गाने 'गंगाप्रसाद गवैया' ने ऐसे गाए कि लोग इससे पहले के स्टेज के सब 'गाने वालों' को भूल गए। उस के तीसरे अङ्क के इस गाने को तो सुनने के लिए मुझे भी १०—१५ रात जागना पड़ा है। क्योंकि यह

गाना रात के एक बजे के बाद ही आता था। जिस प्रकार कि 'लवजी भाई' (सूरदास) का एक गाना। वह गाना था— 'भक्तों के हृदय की मैं झनकार हो रहा हूँ'—रागिनी थी 'दुर्गा'। आज तक उसे नहीं भूला हूँ। कामिक में 'फ़ीरोज़शाह' ने 'घण्टाकरण' बन कर और 'हीरा' ने उसकी पत्नी (लीला) बन कर भी 'कमाल' किया। यह सब इस लिए लिख रहा हूँ—कि ऐक्टरों को जान कर जो पार्ट दिए जाते हैं—वे 'फ़ेल' हो ही नहीं सकते—इस बात को फिर दोहराऊँ।

तीसरा अंक जब मैं लेकर गया—तब तो 'देहली' ही रह गया, सब सिखाकर—गाने, नाच, तैयार करा कर 'स्टेज' करने की तारीख़ घोषित कर दी। मँडवा अब भी 'टीन' का कम्पनी का बनवाया हुआ—(गौरीशङ्कर महादेव के सामने—पत्थर वाले कुँयें के पास) था। अब मैं ने इस नाटक की पब्लिसिटी की। नाम अपनी ही पसन्द से रक्खा—'ईश्वरभक्ति'। अचानक मैं ने सुना—पूज्य प० मोतीलाल जी नेहरू 'देहली' आए हैं—तब वे कांग्रेस के 'प्रेसीडेंट' थे। मैं मेहर्बानजी को साथ लेकर उनकी सेवा में पहुँचा। प्रार्थना की कि आपके हाथों 'ईश्वरभक्ति' का 'उद्घाटन' हो। अपने पुराने कथावाचक का स्नेह उन्हों ने निभाया और स्वीकार कर लिया कि 'आधे घण्टे' को आजाऊँगा। उस समय महामान्य श्री जवाहरलाल नेहरू भी पिता जी के पास बैठे हुए थे—मैं उन्हें निमन्त्रित

न कर सका—इस ख़याल से कि 'पिता पुत्र' को साथ साथ 'नाटक' दिखाना कहीं ग़लत तो न होगा? बाद में मैं पछताया कि मैं उन्हें 'दूसरे ही दिन' लाता—लेकिन तब यह 'ख़याल' आया कि—'ख़्वाहमख़्वाह नाटक दिखाने उन्हें लाना' भी—कहीं ग़लत तो नहीं है? ख़ैर मैं ने 'पूज्य प० मोतीलालजी नेहरू' द्वारा उद्घाटन के समाचार को देहली के दैनिकपत्रों में—पूरे पूरे 'पेजों' में प्रकाशित कराया। परिणाम यह हुआ कि मेरठ, बुलन्दशहर, .खुर्जा, ग़ाज़ियाबाद, पानीपत और रिवाड़ी की 'जनता' ही ने 'पहली रात' के सब टिकट ख़रीद लिए। देहली वालों के लिए 'टिकटघर' पहली रात को बन्द ही रहा।

पूज्य 'श्रीमोतीलाल जी नेहरू'—अपने इलाहाबादी स्वभाव के अनुसार—दस, बारह साथियों सहित आए, आदरणीया श्री सरोजिनी नायडू भी थीं। हम लोगों ने पहली लाइन के सभी सोफ़े रोक रक्खे थे। मंडवे के बाहर हज़ारों की संख्या में जनता उपस्थित थी—उसे दर्शन देने के लिए श्रीमोतीलालजी नेहरू को कुछ देर बाहर ठहरना पड़ा, मंडवे में जब आप आए तो—फूलों के गजरों से कम्पनी के मालिकों ने स्वागत किया। नाटक शुरू होने के पहले 'श्रीमोतीलाल जी नेहरू' ने मंच के ऊपर चढ़कर पूजा की थाली में से रोली, चावल लेकर—पारसी प्रथा के अनुसार—ड्रापसीन की पूजा की, फिर ड्राप-सीन पर इस ढङ्ग से हाथ लगाया कि—इसे उठाओ। बस

'घण्टी' बजी और प्रारम्भिक मङ्गलगान (जय जय गणपति गणेश) की गूँज के साथ ड्राप उठा। उसके बाद—श्रीमोतीलाल जी नेहरू अपनी सीट पर आगए। 'मोतीलालजी नेहरू' मेरे 'ईश्वरभक्ति नाटक' का उद्घाटन करेंगे—यह प्रोग्राम जब निश्चित हो चुका था—तब एक ख़ास फेरफार मैंने स्टेज पर कर डाला था। सूत्रधार (नट-नटी) वाले प्रारम्भिक दृश्य के पार्ट कम्पनी के साधारण ऐक्टरों ही को सदा दिए जाते थे। इस नाटक में मैं ने हीरो, हीरोइन (चौबे रामकृष्ण और नर्मदाशङ्कर) को यह 'पार्ट' दिए—और अन्त में यह वाक्य 'नट' (चौबे) से कहलवा दिया कि मैं 'अम्बरीष' बनता हूँ—तुम अम्बरीष की पत्नी 'पद्मा' बन जाओ।' कम्पनी के दोनों तगड़े ऐक्टर—नट-नटी बनकर—जब शुरू ही के सीन में 'ड्रामा' बोले—तो एक एक मिनट में उन्हों ने 'तालियों की तड़तड़ाहट' ली। मेरा यह 'फेरफार' बड़ा चौकस रहा। इसी स्थान का यह गाना—'भारत वालो, फिर भारत में लहराये ईश्वर-भक्ति'—वंसमोरों के कारण—कई बार गवाया गया। परिणाम यह हुआ कि प्रारम्भ ही से नाटक—ऊपर उठा। 'श्रीमोतीलालजी नेहरू' आए थे—आधे घण्टे को—और अपनी पार्टी सहित बैठे रहे रात के २ बजे तक। पहला अङ्क जब ख़त्म हुआ—और 'ड्रापसीन' गिरा—तो मैं 'श्रीमोतीलाल जी' के सामने गया—इस ख़याल से—कि शायद यह अब जाएँ—पर उन्हें सोफ़े पर जमा हुआ ही देख

कर—मैं ने अर्ज़ की—'लेमन आदि मँगाऊँ ?' उन्हों ने अपने साथियों की ओर देखा—मैं ने तत्काल मेहर्बानजी की ओर देखा—बस—बरफ़ में ठण्डी की हुई 'लेमन की बोतलें' आगईं—पान-सिगरेट आ गए। यह तैयारी पहले से थी। प्रसङ्ग आ जाने के कारण यहाँ यह बात लिखदूँ कि—मेहर्बानजी का बड़ा सन्दूक़ तो बारहों मास और चौबीसों घण्टे—सोडा लेमन की बोतलों ही से भरा रहता था। उन्हों ने बम्बई से चलकर—कहीं भी—कभी भी—कुँयें और नल का पानी पिया ही नहीं। बम्बई में कुँयें का पानी अवश्य पीते थे—और वह भी उस कुएँ का-जो चर्चगेट और हाईकोर्ट के बीच में 'पारसी कुँयें' के नाम से मशहूर है।

मैं ने स्टेज पर जाकर—श्रीमोतीलालजी नेहरू के स्वागत में ख़ास बात जो कही थी—"वह यह थी—एक मास 'आनन्द भवन' में 'कथा' सुनाकर आपके इस बालक ने आपकी सेवा की थी—आज चन्द घण्टे अपना यह 'नाटक' दिखाकर सेवा कर रहा है। आप ने दोनों सेवायें स्नेह के साथ स्वीकारी हैं—इसका धन्यवाद देने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं :—

इस कम्पनी के स्वामियों को आज यह अभिमान है—
श्रीमान् ने करके कृपा—उन का बढ़ाया मान है।

आसन नहीं है - किन्तु हृदयस्थल उपस्थित है प्रभो।
जल की जगह—प्रेमाश्रुओं का अर्घ्य अर्पित है प्रभो॥"
(आदि)

'माधुरी' के लेख के बाद—श्रीप्रेमचन्द जी से मेरा प्रेम बहुत बढ़ गया था। वे तीन बार बरेली आए हैं। पूरी तीन रातें—हम दोनों की बातों ही बातों में—बीती हैं। वे भी चाहते थे कि 'नाटककार' बन कर 'जनता' के सामने आयें। पर बड़े ऊँचे विचार के वे थे। 'ईश्वरभक्ति' देखकर—जहाँ वे अत्यन्त आनन्दित हुए वहाँ यह भी कहा—"चमत्कार इसमें क्यों लिखे हैं?" मैं ने कहा—"जनता अभी वैसी नहीं बनी है—जैसे तुम हो—या तुम्हारे ख़याल के और थोड़े से दर्शक हैं। यह व्यवसायी कम्पनी का नाटक है, 'फ़ेल' हो जाए तो कम्पनी ही 'फ़ेल' हो जाय। नब्बे फ़ी सदी पैसा हमें उसी जनता से मिलता है—जो 'चमत्कार' पर ही 'पागल होकर' तालियाँ बजाती है।"—थोड़ी देर बाद मैंने फिर कहा—"तुम अपने विचार 'भूमिका' में लिख देना, मैं उसे किताब छपने पर—छपवा दूँगा।" यह तो हुईं मौखिक बातें। पर अमल की दुनिया में 'श्रीप्रेमचन्द' जब फ़िल्म लिखने—बम्बई गए—तब वहाँ भी मैं उनसे मिला, उस समय तक उन्हों ने समझ लिया था कि—'उनके विचार के संसार में—और इस नाटक सिनेमा के संसार में—कितना अन्तर है'।

'ईश्वरभक्ति' के बाद मेरे वेतन में १००) और बढ़ गये। ५००) से ६००) होगए। लेकिन मुझे उस से कोई हर्ष नहीं हुआ। उन दिनों तो मैं अपनी 'कथा' के—एक दिन के ५००) भी ले लेता था। एक ऐसी ही बात यहाँ लिख भी दूँ।

'ईश्वरभक्ति' की रिहर्सल जब मैं (दिल्ली में) चला रहा था—तभी अल्वरनरेश स्वर्गीय श्रीजयसिंह के सेक्रेटरी मेरे पास आए और कहा—"एक दिन के लिए 'अल्वर' चले चलिए, महाराज की जुबली है, उसी के सिलसिले में—पहले दिन श्रीरघुनाथजी के मन्दिर का उद्‌घाटन है—उस में आप की कथा 'महाराज' चाहते हैं।" स्वर्गीय श्रीजयसिंहजी को मैं कई बार 'अपनी कथा' सुना चुका था, वे बड़े काव्यमर्मज्ञ, रंगीले, उदार और अच्छे वक्ता भी थे। मैं ने सेक्रेटरी से कहा—"मार्गव्यय के अतिरिक्त—एक दिन की दक्षिणा ५००) लूँगा—वह भी पेशगी; जैसे वकील अपना मेहनताना पहले ले लेता है—तब मुक़दमे की पैरवी को 'कोर्ट' में जाता है।" उस सेक्रेटरी ने तुरन्त मार्गव्यय (दोनों ओर का) और ५००) मेरे आगे रख दिए। अब तो मैं बँध गया;—कम्पनी के मालिकों को अपने इस 'लाभ' की बात बताकर—मैं 'अल्वर' रवाना हुआ।

'अल्वर' में उस रात—कोई दूसरा आवश्यक प्रोग्राम बन जाने के कारण—'मन्दिर का उत्सव' रुक गया,—२—४ रोज

को रुक गया। मुझे ख़ाली पड़ा रहना पड़ा। तब वहाँ के प्रधान मन्त्री—मेरे मित्र के (लायलपुर के लाला अनन्तरामजी आनरेरी मजिस्ट्रेट—जिनके यहाँ मैंने कथा कही थी—उनके) पुत्र थे। मैं उनसे मिला। यों भी वे सज्जन थे; फिर अपने पिता के मित्र का भी ख़याल था उन्हें,-उन्होंने कहा-"पड़े रहिए, आपकी ५००) रोज़ाना की दक्षिणा तो चढ़ ही रही है।" इसी तरह दस दिन हो गए—तब मैं सीधा महाराजा साहब से मिला। अर्ज़ की कि—"ईश्वर-भक्ति का रिहर्सल रुका हुआ है, एक दिन को आया था—आज दस दिन हो गए, अब न रोकिए।" महाराजासाहब ने तत्काल निर्णय किया—"आज शाम को ६ बजे 'सनातन धर्म सभा' है। जगद्गुरु शङ्कराचार्य (गोवर्द्धन मठाधीश) सभापति हैं, व्याख्यान वाचस्पति प० दीनदयालु शर्मा और 'महामहोपाध्याय' प० गिरिधर शर्मा भी हैं। वहीं शुरू में दस मिनिट आपके लिए रखता हूँ-मङ्गलाचरण के नाम से। उसके बाद रात की मेल ट्रेन से आप देहली चले जाँय।" मैंने महाराजासाहब को धन्यवाद दिया।

तीसरे पहर मैंने सोचा—"दस दिन के ५०००) रुपये होते हैं। काम तो कुछ भी नहीं किया। पड़ा ही रहा—उसमें भी-पड़े रहने के दिनों में भी—राजसी भोजनादि मिला और चौबीस घण्टे को मोटर मिली। फिर अब? अब दस मिनट की 'सेवा' के ५०००) रुपये लेना—'हराम की कमाई' है।" इसी

उधेड़बुन में मैं जल्से में पहुँचा। प्रोग्राम के अनुसार शुरू में दस मिनिट मिले। 'एक श्लोक' (राम-वन्दना का) पढ़कर 'सनातन धर्म सभा' की नाव स्वयं रामजी पार लगायँ'—यह वाक्य कहा। फिर कहा—"रामजी के ही वंश में—रघुवंश में—अलवर राज्याधिपति—आप भी हैं। मैं आपका ध्यान 'रामायण की एक घटना' की ओर ले जाता हूँ। वन में राम-जानकी जब जारहे थे—तो एक हड्डियों का ढेर—एकजगह देखकर ठिठक गए।

"अस्थि समूह देखि रघुराया।
पूछा मुनिन लागि अति दाया॥ (गाकर)

ठहरे, ठिठके, एक दम, लगे देखने नाथ।
फिर पूछा—मुनिवृन्द से—था जो इनके साथ॥

हे पूज्यवरो, ऋषियो मुनियो, हड्डियों का कैसा ढेर है यह ?
यह तपोभूमि का है कलङ्क; या शासन का अन्धेर है यह ?
हा ! कितना क्रूर कष्टवाला, करुणापूरित नज़्ज़ारा है !
पकड़े हैं जिसने पाँव मेरे, दिल को कर डाला पारा है॥
यह क्या है,बतलाओ तो सही,चुप क्यों हो? कैसे ड़रसे रहे ?
किस माली का उजड़ा है बाग़,जिसके यह फूल बिखर से रहे ?"

'फूल' हड्डियों को भी कहते हैं—"महाराज' ने मेरे इतना कहते ही—यह समझ भी लिया। वे गद्गद् होने लगे। घड़ी में अभी पाँच मिनट ही बीते थे—मैंने फिर कहा—"रावण के

डर से सभी ऋषि उस समय 'चुप' से थे—फिर भी—कुछ बूढ़ों ने कहा :—

"हमको वेनृप की प्रजा जान, असुरों ने ख़ूब सताया है—
कितने ही ऋषियों मुनियों को अत्याचारियों ने खाया है॥
जो भोजन बने भक्षकों के—उनकी हड्डियाँ पड़ीं हैं यह।
पत्ते तो ख़िज़ाँ के पेट में हैं—सूखी टहनियाँ पड़ी हैं यह॥
हसरत से उसको देख रहीं—जो अन्यायी से बदला ले।
पर मिला न ऐसा वीर कोई जो ब्योरा अगला पिछला ले॥
यह 'फूल' हैं जिसकी बग़िया के, वह 'माली' शायद सोता है।
उसकी ही लापर्वाही से—अन्याय बाग़ में होता है॥"

घड़ी में आठ मिनट हो गए। मैंने देखा—'महाराज रो पड़े' फिर कहा—

करुण कहानी पड़ी जब—करुणानिधि के कान—
क्यों आए हैं जगत् में ? आया इसका ध्यान॥

गो, ब्राह्मण-रक्षक गरज उठे—'ऋषियो, तुम सुनो प्रतिज्ञा को।
पृथ्वी, पाताल, गगनमण्डल—तीनों तुम सुनो प्रतिज्ञा को॥
मैं हाथ उठाकर कहता हूँ—यह दुख हरना है काम मेरा।
'पृथ्वी को निश्चरहीन' करूँ—तब 'दशरथनन्दन' नाम मेरा॥"

'महाराज' रो रहे थे—मैं ने फिर कहा—"रघुवंश में जन्म लेने वाले महाराजा साहब बहादुर—'सनातन धर्म' की भी आज हड्डियाँ बिखरी हुई हैं, यहाँ उपस्थित सन्तों और पण्डितों

के समक्ष खड़े होकर आप प्रतिज्ञा करें कि 'सनातनधर्म' को 'पुनर्जीवन' देने की सेवा अपने हाथ में लेंगे।" घड़ी ने १० मिनट पूरे किए। इतने में रूमाल से 'आँसू' पोंछते हुए—'महाराज साहब' अपनी कुर्सी से उठ खड़े हुए। कहा—"वैसे ही आग लग रही थी—और ईंधन डाल दिया। आधा घण्टा आपको और दिया, इस 'प्रसंग' को 'पूरा' कीजिए।" अबतो मैं 'डटकर' इसी विषय पर बोला—फिर भी वह जब पूरा नहीं हुआ—तो 'महाराज साहब' ने 'आर्डर' किया—८ बजे तक अब यही 'कथा' होगी। आज का 'प्रोग्राम' भी इतना ही रहेगा। सभा की कार्रवाई अब 'कल' दिन के तीसरे पहर होगी। मैंने 'आठ बजे' जब 'कथा' पूरी की—तो पण्डित दीनदयालुजी ने 'वाह बेटे' कहकर मुझे उसी तरह—हृदय से लगाया—जैसे कोई उस्ताद पहलवान दंगल जीतने वाले अपने शागिर्द को प्यार से लिपटाता है—तब मुझे इतना हर्ष हुआ था—जो आज तक विस्मरण नहीं है। महाराजा साहब से जब मैं कह रहा था कि—"अब 'मेलट्रेन' से चला जाऊँ ?" तभी ऊपर से 'महारानी साहिबा' का सन्देशा आया—'कल महलों में कथा होगी'—महाराजा साहब ने कहा—"अब कल ही रात को जाना।"

दूसरे दिन प्रधान मन्त्री से जब मैं मिला—तो उन्होंने कहा—अपने आदमियों को और सामान को शाम ही को 'स्टेशन' पर भेज दें। 'कथा' समाप्त होते ही—आप सीधे स्टेशन

जायेंगे—सीट रिजर्व करने के लिए 'अजमेर' फ़ोन किया जा रहा है। दक्षिणा कथा समाप्ति पर वहीं—'ख़ज़ाने का चपरासी' देगा,—और रसीद पर दस्तख़त भी ले लेगा !"

यह सब लिखकर मैं अपनी तारीफ़ नहीं बघार रहा हूँ—'कथा' तो मैंने 'अपनी रामायण' की अच्छी कही ही है—तभी तो उसका—रामायण का—भारत भर में प्रचार हुआ है;—मैं तो इस 'घटना' को लिख कर—'महाराजा साहब अल्वर' कैसे थे—यह बता रहा हूँ। साथ ही यह भी लिखदूँ—कि हमारे बुज़ुर्ग भी 'अल्वर राज्य' के एक गाँव ही से इस तरफ़ आकर बसे हैं—उसी राज्य के—अपने बुज़ुर्गों की जन्मभूमि के—एक ऐसे 'भावुक महाराज' का थोड़ा सा वर्णन करदेना ही—इस 'कथा' के लिखने का उद्देश्य है। दूसरा उद्देश्य यह भी है कि जिन भाइयों का यह ख़याल रहा है कि—'राधेश्याम' कमाई के लिए 'न्यू अल्फ्रेड' में गया—उन्हें बतादूँ कि ऐसा नहीं है। कमाई तो 'नाटक' से ज्यादा 'कथा' में हुई है, और कथा तथा नाटक से भी ज्यादा—'रामायण के प्रकाशन' में हुई है। जो आजतक जारी है। 'मेरा नाटक-काल' तो मेरे शौक़ की चीज रही है।

'न्यू अल्फ्रेड' के मालिकों को मैंने जब अल्वर की आमदनी के नए-नए नोट दिखाए तो उन्हें भी 'प्रसन्नता' हुई। उन नोटों से मैंने बरेली में एक मकान (बाबू द्वारकाप्रसाद

वकील से) खरीदा और अपने घरवालों से कहा--इस मकान का नाम मैं 'अलवर हाउस' रखता हूँ।

'ईश्वरभक्ति' खिल जाने के बाद—बुलावा आने पर—फिर एक दिन मुझे 'अलवर'—'श्रीरघुनाथ जी के मन्दिर के उद्घाटन' पर जाना पड़ा है।

वहाँ से लौट कर पत्नी-सहित 'ऊँकारेश्वर' (मालवा) दर्शनार्थ चला गया। प्रत्येक नाटक को स्टेज कराकर--मैं प्रायः 'तीर्थपर्यटन' को गया हूँ। 'परिवर्त्तन' खिलवा कर अपनी माताजी और पत्नी के साथ 'जगन्नाथ पुरी' (पहली बार) गया था--यह मुझे अब तक याद है। 'नाटक कम्पनी वालों' को तब रेल्वे से--'कनसेशन' मिला करता था। 'डाइरेक्टर' की हैसियत से मैं ने भी उस कनसेशन से प्रायः 'लाभ' उठाया है। 'सेकिण्ड क्लास' का टिकट लेकर 'फ़र्स्ट क्लास' में (सपत्नीक) यात्रायें की हैं।

एक दिन देहली ही में -कलकत्ते के मैडन थिएटर्स का एक मशहूर ऐक्टर (मास्टर मोहन) 'ईश्वरभक्ति' देखने आया। कई दिन रहा। मालिकों ने समझा--'पण्डितजी को कलकत्ते ले जाने के लिए आया है!'--क्योंकि ऐसी घटनाएँ--कलकत्तेवालों द्वारा इस से पहले हुई हैं। प्रह्लाद की श्यामलता (फूलचन्द मारवाड़ी) और 'प्रह्लाद'--'प्रमोद'--का पार्ट करनेवाले--दो बड़े ही अच्छे 'नायक बालक' (बल्देवदास

और भोलाशङ्कर) कलकत्ते चले गए थे। 'पारसी अल्फ़्रेड' ही 'मैडन थिएटर्स' में विलीन नहीं हुई थी—लाहौर में--'न्यू अल्फ़्रेड' के सामने जब बम्बई की एक दूसरी कम्पनी 'इम्पीरियल' कमज़ोर पड़ी, तो वह भी 'मैडन थिएटर्स' ने ख़रीद ली। 'न्यू अल्फ़्रेड' के मालिकों के दिमाग़ में यह बात पूरी तरह 'बसी' हुई थी—कि 'मैडन थिएटर्स' का दाँत 'न्यू अल्फ़्रेड' के ख़रीदने पर भी है। यह पारसी--पारसी--के व्यवसायी दृष्टिकोण थे। मुझे उन से क्या मतलब।- मैं ने तो एक दिन मेहर्बानजी से यह कहा -"डरते क्यों हो? अपनी कम्पनी को 'कलकत्ते' ही ले चलो'--'उनकी कम्पनी से मुक़ाबिला करेंगे'। पर मेहर्बानजी दबके ही रहे। 'स्टेज' ही की बात नहीं है -और भी न जाने क्या बखेड़ा वहाँ लगे? वे कलकत्ते कम्पनी ले ही नहीं गए। मेरे कार्यकाल में 'न्यू अल्फ़्रेड' इतने ही शहरों में घूमती रही है—बम्बई, इन्दौर, जयपुर, देहली, मथुरा, आगरा, कानपुर, लखनऊ, बनारस, लुधियाना, जालंधर, अमृतसर, लाहौर, और पेशावर। और अलीगढ़, मेरठ, मुज़फ़्फ़र नगर, सहारनपुर, मुरादाबाद की नुमाइशें।

'मास्टर मोहन' मुझसे भी मिला था--मैं ने मेहर्बानजी के सामने ही उस से कह दिया--मैं 'न्यू अल्फ़्रेड' की सेवा--अपनी कम्पनी समझकर--कर रहा हूँ, या इस लिए कर रहा हूँ कि 'सोराबजी' और 'भोगीलाल' इस कम्पनी को छोड़ गए।

उनके दिमाग़ में यह बात बराबर रही है कि हमारे बिना 'कम्पनी' नहीं चल सकती है, मैं ने उन्हें बताया है कि चल सकती है।

तभी--मास्टर मोहन ने यह भी पूछा—'ईश्वरभक्ति' के बाद अब कौन सा ड्रामा लिखिएगा ? मैं ने गम्भीरता के साथ कहा--'ईश्वरभक्ति' के बाद ?'--समझ में नहीं आता कि 'ईश्वरभक्ति' के बाद अब कहाँ जाऊँ ?--इस वाक्य में मेरी 'नाटक लेखन' के प्रति अरुचि; और थकान भी थी।

'कम्पनी' जब लाहौर गई—तो वहाँ मैं ने मालिकों से कह ही दिया—"मैं थक रहा हूँ—अब किसी और 'नाटककार' को रखने की सोचिए" ! उन्हों ने बहुत सोच विचार के बाद—यह निश्चय किया कि- 'कोई नया नाटककार नौकर रख कर पण्डितजी अपने डाइरेक्शन में—सोराबजी की तरह—नाटक लिखा कर 'स्टेज' करें।" नाटककार की भी खोज हुई पर मिला नहीं। बड़े नाटककारों में तो 'श्रीहश्र' और 'श्रीबेताब' ही थे। पर वे 'मुँहमाँगी' दक्षिणा लेकर भी—'शान' के साथ 'काम' करनेवालों में थे।

अगले सप्ताह अपने किसी काम से मुझे 'लखनऊ' जाना पड़ा था। वहाँ न्यू अल्फ्रेड के पुराने नाटकलेखक, वयोवृद्ध मुंशी 'अहसन साहब' से अचानक 'चौक बाज़ार' के सामने वाले बाग़ में मुलाक़ात होगई। वे 'ख़ाली' थे, आर्थिक कष्ट

भी था, उन्हों ने स्वयं ही यह 'प्रस्ताव' रक्खा कि 'मुझे—कहीं-काम में लगाओ'।

'लाहौर' जाकर मैं ने कम्पनी के मालिकों के आगे 'अहसन साहब' का नाम रक्खा, उन्हों ने स्वीकार कर लिया, मार्गव्यय भी भेज दिया, 'अहसन साहब' आगए। एक ड्रामा भी अपने साथ लाए थे। उसे सुनने—मालिकों के साथ—मैं भी—अपने असिस्टेण्ट 'नर्मदाशङ्कर' के साथ—बैठा। 'नीरो' का क़िस्सा था—गए गुज़रे समय का ढङ्ग। 'न्यू अल्फ़्रेड' उससे कहीं आगे बढ़ चुकी थी। पसन्द नहीं आया वह। आख़िर कुछ रुपए देकर—वह 'नाटक' ख़रीद लिया गया और वापिसी का 'मार्गव्यय' देकर अहसन साहब को सादर विदा किया। नौकर रखने की बात 'गोल' रही। हम सब फिर 'जहाँ के तहाँ' रहे। कौन-सा नया नाटक निकालें? यह विचार चलता ही रहा। आख़िर मुझी को मजबूर किया गया कि 'कृष्णचरित्र' का 'तीसरा भाग' निकालूँ—'द्रौपदी-स्वयंवर' के नाम से। उस 'थके हुए दिमाग़ से भी' मैं ने उसे 'घसीटना' शुरू कर दिया। इस दर्म्यान में एक और भी चक्कर आया—मेरा ज्येष्ठ पुत्र 'घनश्याम'—जिस से मुझे बहुत ही स्नेह था—बरेली में 'ज्वरग्रस्त' हुआ। उसका 'ज्वर' जाता ही नहीं था। मेरे दिमाग़ पर उसकी चिन्ता रोज़ बढ़ती जाती थी। कहीं टी॰ बी॰ (क्षय) न हो जाय!—उसकी कमज़ोरी मुझसे देखी तक नहीं जाती थी;—लाचार मैंने अपने लिए उस

मौक़े से . बरेली से) हटाना चाहा। अपने मित्र और विश्वासी—डाक्टर) बरेली के प्रसिद्ध—'श्यामस्वरूपजी' की देखरेख में घनश्याम को बरेली ही छोड़कर मैं कम्पनी में (अमृतसर) चला गया।

'अमृतसर' में मेरे प्रिय शिष्य—चौबे रामकृष्ण (कृष्णावतार के नारद) ने 'ताड़' लिया, कि गुरूजी आजकल लिखने—और रिहर्सल चलाने में 'उदास' रहते हैं। उसने कहा भी। यह भी कहा—'नाटक' कमज़ोर न जाय। मैंने कहा—'नाटक' तो 'पास' ही होगा। यद्यपि मैं यह जानता था कि 'प्लाट' उलझा हुआ है, पर—समझदारों के लिए—मैं ने उस में यह 'रंग' भरा था—कि 'पाण्डव-चरित्र' के भीतर भी—'श्रीकृष्ण' ही हैं—अर्थात् वहाँ भी 'श्रीकृष्ण—चरित्र' ही चल रहा है। 'गाने' समझकर रक्खे थे—जैसे 'श्रीकृष्ण और नारद' की डुयेट में—"हम निर्गुण हैं गुणवान हो तुम, महाराज न ऐसी बात कहो"—इस गाने को—गानेवाले भी—समझे हुए ऐक्टर—गंगाप्रसाद गवैया और चौबे रामकृष्ण थे। और वह 'फ़िदा हुसैन ?'—जिसने अपने 'योगमाया के पार्ट' के गानों की 'श्रीकृष्णावतार' और 'रुक्मिणी-मंगल' में धूम मचाई थी; इस नाटक में भी 'योगमाया' बना। 'श्रीकृष्णावतार' के उसके यह गाने :—

"भाग्य फिर सोते हुए भारत का जग जाने को है।" आदि २

"नाथ फिर डूबते भारत को बचाने आओ।" आदि २

और 'रुक्मिणी-मङ्गल' का उसका यह गाना :--

"हे नटवर निराली है लीला तुम्हारी ।" आदि २

घर घर--ज़ुबान ज़ुबान पर आज तक हैं । उसी 'फ़िदाहुसेन' को 'द्रौपदी-स्वयम्वर' में यह नए गाने दिए:--

"कृष्ण कृष्ण बोल मनुआ, कृष्ण कृष्ण बोल ।" आदि २
"दुनिया है दर्शन का मेला ।" आदि २
"माया ने है सबको घेरा ।" आदि २

चौबे रामकृष्ण से मैंने कहा--"कर तो यह सब रहा हूँ--पर दूसरे तीसरे दिन--'घनश्याम' का--बरेली से--ख़त जो आता है कि अभी तक 'ज्वर' नहीं गया- मुझे 'उदास' कर देता है।

एक दिन मैंने फिर सोचा--"नाटक निकालने में जहाँ 'कर्तव्य पालन' है--वहाँ वह 'कर्तव्य-पालन' 'नौकरी' ही के 'बन्धन' से शुरू होता है। 'नौकरी का बन्धन'--लेखक को--कवि को--चाहिए ही नहीं--सिर से उतारनी ही होगी यह गठरी।"

'नाटक' तो 'पास' हो ही गया। कितना 'पास' हुआ--यह तो मुझे तब मालूम हुआ--जब 'रामपुर' कम्पनी आई--और नवाब साहब रामपुर (वर्तमान) ने मुझे बुलाकर उसकी बारीकियाँ--जो उन्हों ने ख़ूब समझी थीं--बताईं।

नवाब साहब मौसूफ़ 'नाटक कला' के अच्छे जानकार हैं--कई बार उन्हों ने मुझे अपने डाइरेक्शन की 'रिहर्सल' दिखाई है। एक नाटक भी दिखाया है 'सूरदास'। उस रोज़ तो देहली के 'श्रीआसफ़अली' भी बुलाए हुए आए थे। और भी कई सज्जन थे। यह 'नाटक' उनके 'प्राइवेट नाटक घर' ही में खिला था- जो 'महलों' से मिला हुआ था। निश्चय ही नवाब साहब मौसूफ़ 'कलाकार' भी हैं और 'कला पारखी' भी। 'रामपुर' को उन्हों ने बहुत 'तरक़्क़ी' दी है, कई 'लिमिटेड कनसर्न' भी क़ायम कराए हैं। वे चाहते थे कि मैं भी उनके 'नाटकीय' और 'फ़िल्मी' शौक़ में हिस्सा लूँ। पर अपनी 'थकान' के कारण -मैं दूर ही रहा।

'बरेली' आकर--'जल चिकित्सा' द्वारा--'घनश्याम' को मुश्किल से ठीक कर सका। जाड़ों में जब कम्पनी 'देहली' थी--तो ज़ाना ही पड़ा -'नौकर' जो था। वहाँ 'निसार' फिर आगया था--उसे कई 'पार्ट' सिखाने थे। अचानक जुकाम हुआ, खाँसी हुई। दवायें लीं—पर--बेकार। रात रात भर बैठ कर खाँसता था। मेरी उस बीमारी में 'भगवान्जी' ने 'सूर विजय वाले उसी डाइरेक्टर ने '—जो अभीतक 'न्यू अल्फ़्रेड' में नौकर था—मेरी बड़ी सेवा की है—वह सेवा आजतक मैं नहीं भूला हूँ। कई दिन—इस तरह गुज़ार कर—मालिकों से मुझे यह कहना ही पड़ा कि—"अब तो मैं स्वास्थ्य ही ठीक करूँगा—'न्यू अल्फ़्रेड' को आप जैसे चाहें—चलायें।"

दुःख तो उन्हें भी था—पर क्या करते ! लाचार थे। कम्पनी के ख़ास ख़ास ऐक्टर भी यह जान गए थे, पर सब चुप थे। इस तरह अपनी प्यारी 'न्यू अल्फ्रेड' से मैं ११ फ़र्वरी सन् १९३० में विदा हुआ।

अपने नाटककाल में—किसी किसी ड्रामे के लिखने में मुझे कितना 'महव' (तल्लीन) होना पड़ा है—उसका एक वाक़आ (हाल) यहाँ लिख दूँ। कम्पनी बम्बई थी। बाली वाला विक्टोरिया थिएटर—ग्राण्टरोड में। मैं थिएटर ही के ऊपर एक कमरे में ठहरा था। एक इतवार को दिन में तीसरे पहर—जब खेल चल रहा था—मैं अपने कमरे में आया—शाम के खाने को 'कुकर' में 'दाल चाँवल' भरा और कोयले की अंगीठी पर चढ़ा कर—चल दिया। नौकर (कहार) से कह गया कि इन्हीं कोयलों में यह 'पक' जायगा—मैं आकर खाऊँगा—एक सिनेमा (बोलता हुआ नहीं 'मूक', तब वही चलते थे) देख आऊँ। 'सिनेमा' का एक दृश्य मुझे बहुत ही भाया। रात को १० बजे के क़रीब जब लौटा—तो 'कुकर' का दालभात खाना तो भूल गया;—क़लम—काग़ज़—लेकर 'मशरिक़ी हूर' के एक 'सीन' को अदल बदल कर लिखने लगा। फिर लिखूँ—फिर काटूँ, फिर काटूँ—फिर लिखूँ—क़लम से सीन—मन के माफ़िक़ 'पूरा' उतरता ही नहीं था—उधर 'जिद' यह थी कि लिखकर ही—छोड़ूँगा। आखिर

लिखते लिखते एक 'आवाज़' सी आई—खिड़की खोल कर देखा—'ट्राम' चलने लगी, सवेरा होगया। सीन भी इत्तफ़ाक़ से उसी समय 'पूरा' होने आया था—दो चार आख़िरी लाइनें और थीं—वह लिखीं—और 'कहार' को आवाज़ दी। वह जागा और सामने आगया। यह वक़्त दुनिया वालों के जागने का है, शौचादि से निवृत्त होकर 'भगवद्भजन' का है—पर मैं ने उसी समय—नौकर से 'पानी' लाने को कहा—और 'कुकर' खोल कर दालभात खाया। खाते ही नींद का घुमेड़ा आया—और 'शैया' पर सो गया।

यहीं पर 'रिहर्सल' की भी कुछ बातें लिखदूँ। अपने ज़माने में 'रिहर्सल' पर मैं बड़ी 'कड़ाई' रखता था। पान, सिगरेट तो उस मौक़े पर खाना और पीना बन्द ही था। अख़बार या नाविल भी कोई ऐक्टर नहीं पढ़ सकता था। सब को मेरी हिदायत थी कि मैं कोई सा भी पार्ट—किसी भी ऐक्टर को सिखाता होऊँ—तो सब ऐक्टर उसे देखें और समझें। ऐक्टर को क्या चाहिए ? अच्छा पार्ट। वह देना मेरे ही हाथ में था। फिर मेरे भीतर यह विश्वास भी था—कि मैं नए आदमी को भी—अच्छा ऐक्टर बना सकता हूँ—अगर वह आदमी कुछ पढ़ा लिखा, अच्छी आवाज़ का, अच्छे 'दिखाव' का है। सब ऐक्टर—यह बात समझते थे। समझने को तो वह तबला मास्टर (गुलाम हुसैन) अक्सर अपने साथियों से कहा करता था—"कि पण्डितजी, जब 'रिहर्सल' में आते हैं—तो पहले मैं

उनके 'चेहरे' को 'ताड़ता' हूँ कि किस 'रस' में हैं। कहीं 'मिस्टेकबुक' में से मेरे 'तबले' की कोई 'मिस्टेक' निकाल कर—'तबले' पर ही बैठ कर वे मुझे बताने न लगें।—वे तबला भी तो खूब बजा लेते हैं—और उसकी समझ रखते हैं।"

'रिहर्सल' का टाइम सुबह ९ बजे का था। एक घण्टी साढ़े आठ बजे बजती थी कि ऐक्टरों को मालूम हो—'रिहर्सल' का टाइम हो रहा है। दूसरी पौने नौ बजे कि 'थिएटर' पहुँचिए। तीसरी ९ बजे—जब मैं पहुँचता था। अगर कोई ऐक्टर नौ बजे मुझे वहाँ नहीं दिखाई देता था—तो मैं जान बूझकर—ऐसा सीन (नए नाटक का) पहले शुरू करता था—जिसमें—उस न आने वाले—ऐक्टर—का पार्ट हो। इसका अर्थ था कि सब ऐक्टरों में वह 'ज़लील' होता था। मैं तब उसे 'मेहर्बानजी' के पास भेजता था—वह उनके कमरे में 'रुआँसू सा' जाता था। वे उससे कहते थे—'हम तो इस ख़याल के हैं—फ़ायदा जाय तो जाय—क़ायदा न जाय।' उसके 'गिड़गिड़ाने' पर मेहर्बानजी अपने कमरे से उठकर—उसे साथ लेकर—मेरे पास 'रिहर्सल' में आते थे—और उससे कहते थे—'माफ़ी माँगो—फिर ऐसा न करना'। इस कड़ाई का परिणाम यह था कि कोई ऐक्टर—देर से पहुँचता ही न था। रिहर्सल शुरू नौ बजे ही होती थी—फिर मुझे अख़्तियार था कि मैं दस बीस मिनट बाद ही उसे ख़त्म कर दूँ—या दो बजे तक चलाता रहूँ। देर तक चलाने में—दस मिनट की

एक छुट्टी जुरूर दी जाती थी—'बाहर' जाकर—पानी पीने—पेशाब जाने—या सिगरेट पीने—या पान खाने के लिए।

अब मैं फिर उठाए हुए प्रसङ्ग पर आता हूँ। उस सोमवार को सुबह ६ बजे—कुन्नर का दाल भात खाकर—मैं जब सोया था—तो नौ बजे रिहर्सल में कैसे जा सकता था? पर जाना आवश्यक था।—'फ़ायदा जाय तो जाय—क़ायदा न जाय।' ठीक समय पर 'नर्मदाशङ्कर' ने मुझे जगाया—नौ की घण्टी बजाऊँ? मैं ने कहा—बजाओ।—एक मिनट में कुरता, डुपट्टा गले में डालकर मुझे 'रिहर्सल' में जाना पड़ी। यद्यपि उस दिन ज़्यादा देर तक मैं ने 'रिहर्सल' नहीं चलाई। वह मेरे अधिकार की बात थी।

ऐसा ही एक दिन बरेली में भी हुआ। शाम ही को—बत्ती जलाकर 'सती पार्वती' लिखने बैठ गया। मेरी स्त्री यह जानती थी—कि 'शायरी' करने के बाद ही—यह भोजन पायेंगे। शाक उसने बना लिए थे, आटा मल लिया था, इसके बाद मुझे आकर देखा—तो मैं लिखने में निमग्न था। वह लौट गई, और चूल्हे के पास दीवार का सहारा लेकर माला जपती रही। मेरा लिखने का ध्यान उस समय टूटा—जब कहारी ने किवाड़ें बाहर से खटखटाईं। चौंककर कुर्सी से उठा तो—सुबह की सफ़ेदी थी। मेरी स्त्री भी बैठे ही बैठे सोगई थी—माला नीचे पड़ी थी।

अपने प्यारों को यह बताने के लिए—कि कितनी 'धुन' और कितना परिश्रम यह 'लाइन' चाहती है—मैंने यह दो घटनाएँ लिखी हैं।

और भी एक घटना—दूसरे प्रकार की लिखता हूँ। इसका सम्बन्ध लेखन से नहीं—स्टेज के डाइरेक्टर के पद से है। लाहौर में 'रुक्मिणी-मङ्गल' ख़ूब चल रहा था। कम्पनी का बड़ा हारमोनियम मास्टर (निहालचन्द) छुट्टी पर गया हुआ था। छोटे हारमोनियम मास्टर 'कल्याणजी' पर ही तब सारा बोझ था। हमेशा दो हारमोनियम मास्टर कम्पनी में रहते हैं। बड़ा हारमोनियम मास्टर पहले अङ्क ही में हारमोनियम बजाने बैठता है। दूसरे—तीसरे अङ्क में छोटा हारमोनियम मास्टर हारमोनियम बजाता है। बड़ा हारमोनियम मास्टर इसलिए पहले अङ्क ही तक ड्यूटी देता है—कि वह रात के १२ बजे तक जाकर सो जाए। उसे दिन में—रिहर्सल के समय—डाइरेक्टर से आज्ञा लेकर—'म्यूजिक रूम' में—गानेवाले ऐक्टरों को साथ लेकर जाना पड़ता है, और गाने सिखाने पड़ते हैं। नया नाटक चल रहा हो तो उसको तर्ज़ें बनानी पड़ती हैं। 'बोल' लेखक ने बनाकर दे दिए,—अब उसकी 'तर्ज़' बनाकर 'डाइरेक्टर' को सुनाकर 'पास' कराना उसकी 'ड्यूटी' है। तो वह तर्ज़ को इस रूप में 'डाइरेक्टर' को सुनाता है—कि गानेवाले ऐक्टर को—'बोल सहित' तर्ज़ फ़िट कराता है। इस काल

में—ऐक्टर अगर गवैया है तो वह भी उस तर्ज़ में—'मुर्कियाँ' 'उतार-चढ़ाव' की राय हारमोनियम मास्टर को देता है, तबले वाला भी कुछ 'ढब' और 'ढङ्ग'—'ताल' और 'लय' की 'लौट-पलट' पर—ध्यान दिलाता है। इस तरह वे लोग—अपने ख़याल से—बिल्कुल सही करके—डाइरेक्टर को वह गाना सुनाते हैं। उस समय—उस गाने को पास या फ़ेल करना डाइरेक्टर का एकाधिकार है। उस 'म्यूज़िक रिहर्सल' में आवश्यकता पड़ जाने पर 'लेखक' को भी जाना पड़ता है। 'बोल' बदलने की सूरत भी आ जाती है। लेखक अगर गाना जानता हो—तो बहुत आसानी रहती है।

हाँ—तो इसी कारण बड़ा हारमोनियम मास्टर (म्यूज़िक डाइरेक्टर) थिएटर में पहला अङ्क ही बजाता है। तबले वाले भी यदि दो हों—तो बड़ा तबलेवाला ही पहले अङ्क में बैठता है।

लाहौर में तब—एक ही हारमोनियम मास्टर (छोटा) था। दिन की रिहर्सल में कोई 'नया नाटक' नहीं चल रहा था। केवल चालू नाटकों की ग़लतियाँ ही (मिस्टेक बुक से) सही करदी जाती थीं। मुश्किल से घण्टे भर रिहर्सल चलती थी। अगर नया नाटक चल रहा होता—और छोटे हारमोनियम मास्टर पर उसका भी बोझ होता—तो अवश्य उसका वह बोझ 'ग़ौर' करने की बात थी। पर ऐसा

न होने पर—उसने 'मेहर्बानजी' से तनख़्वाह बढ़ाने की बात कही। अगर 'तनख़्वाह' नहीं बढ़ती है—तो वह नौकरी छोड़ देगा। फिर रात को क्या होगा? उस समय तो वही अकेला 'हारमोनियम मास्टर' था। मेहर्बानजी ने मुझसे कहा। मैंने कहा—"मैं ठीक कर लूँगा।" उसी रात को सिर पर पट्टी बाँधे वह थिएटर पर आया। मैंने कहा—"क्या है कलिया?" (कल्याणजी का छोटा नाम) उसने कहा—'सिर फटा जाता है।' मैंने तुरन्त कहा—'तो जाकर आराम करो।' वह तो सकते में आगया। खड़ा रह गया। मैंने फिर उससे वही फ़िक़रा कहा। वह मेहर्बानजी पर गया—उनको साथ लेकर मेरे पास आया। मेहर्बानजी ने मुझ से कहा—इस पर क्यों नाराज़ हो?—मैंने कहा—"नाराज नहीं हूँ, इसके सिर में दर्द है, इसे आराम करने का हुक्म मैंने दिया है।" उन्होंने कहा—"फिर हारमोनियम?" मैंने कहा—"आज मैं बजाऊँगा।" यही हुआ। तब से मेरे कार्यकाल तक—तनख़ा बढ़ाने की बात उसने नहीं कही।

ऐसी ही एक और घटना है लखनऊ की—जब वहाँ 'परिवर्तन' चल रहा था। 'शम्भु दादा' का पार्ट करनेवाले ऐक्टर को अपने पार्ट का बड़ा घमण्ड था। मैंने जिसे पहली रात—देहली में—'शम्भु दादा' बनाकर निकाला था—और जिसका पार्ट 'सर्वप्रिय' हुआ था—वह ऐक्टर 'इब्राहीम मोटा' कम्पनी से चला गया था। उसके डुप्लीकेट पार्ट करते

वाले (नन्दकिशोर) को यह घमण्ड हुआ—कि पण्डितजी के सिखाए हुए—इब्राहीम मोटे से भी मेरा पार्ट इक्कीस है। उसने १-२ ऐक्टरों से यह भी कहा—"पण्डितजी सिखाते ज़रूर अच्छा हैं—पर स्टेज पर करके भी दिखायें—तो हम जानें।" मुझे उसका यह घमण्ड अच्छा नहीं लगा। अचानक एक रात साढ़े आठ बजे जब मैं थिएटर पर पहुँचा—तो नन्दकिशोर से कहा—"ड्रेस रूम से तुम अपनी धोती बग़लबंडी, और 'बाल' मेरे पास ले आओ।" उसने कहा—"क्यों?" मैंने कहा—"आज 'शम्भुदादा' का पार्ट मैं करूँगा।" वह तो 'हैरान' रह गया। मैंने फिर कहा—और 'ड्रेस' मँगवा ही ली। पेण्ट नहीं किया। उम्र के लिहाज़ से मूँछ और भौं पर 'पफ़' लगा लिया। भीतर बाहर किसी को भी ख़बर नहीं थी। अचानक पहले ही सीन में 'शम्भुदादा' बनकर मैं निकला। शम्भुदादा का पार्ट पहले ही सीन से शुरू होता है और नाटक ख़त्म होनेवाले—अन्तिम सीन तक रहता है। यह मैंने नन्दकिशोर से कह दिया था—कि "तुम 'विंग' में छुपे हुए बराबर रहना; कहीं भूलूँ तो 'प्राम्पृ' दे देना।" पर—जहाँ तक मुझे याद है—'प्राम्पृ' की नौबत नहीं आई। मेरे स्टेज पर आते ही—ऐक्टर मंडल में अचम्भा सा हुआ—मेरा पार्ट देखने का उत्साह भी छा सा गया। विंगों के आस पास—टूट से पड़े ऐक्टर। दृश्य के भीतर एक अजीब सा दृश्य था। 'कथा-वाचक' ने जब

'शम्भुदादा' के रूप में—ड्रामे के वाक्यों का उच्चारण किया—तो वाक्य पूरा होने के पहले ही—बीच में भी—तालियों की गड़गड़ाहटें होने लगीं। इतना क्लैपिंग (ताली का शब्द) हुआ कि पहला अंक १५ मिनट बाद गिरा। १५ मिनट बढ़ गए। तीनों मालिक भी मँडवे के भीतर 'शम्भुदादा' के सीनों में—आकर खड़े हो जाते थे। स्टेज पर पार्ट करने वाले—सीनों के ऐक्टर—अपने पार्ट का ध्यान छोड़कर—'शम्भुदादा' ही का ऐक्टिंग देखते थे। शाकिर (श्यामलाल) एक जगह नाटक में शम्भुदादा के 'लात' मारता है। पर वह अपने पण्डितजी के रोब में था, अदब में ऐसा खोया गया कि उससे लात ही न उठी। तब नया वाक्य बनाकर वहीं कहना पड़ा—'मालिक, लात मारने का इरादा करके भी तुम लात नहीं उठा सके—शराब ने ऐसी हालत तुम्हारी करदी है।' पहला ड्रॉप जैसे ही गिरा तो—बड़े मोटे मोटे गजरों का एक इतना लम्बा हार—जो मेरे पैरों तक आगया था, मेहर्बानजी ने—विंग के पास ही मेरे गले में डालकर कहा—'और क्या नज़र करूँ ?' उस समय वे गद्गद् थे। बाहर जनता कह रही थी—बम्बई से इस बार 'एक नया ऐक्टर' आया है—लखनऊ में यह 'तमाशा' ख़ूब चलेगा।

दूसरे ड्रॉप के बाद जब मैं बाहर आया—तो नन्दकिशोर 'गुरुदेव' कहकर-मेरे पैरों पर गिर पड़ा। फिर कहा—"दो अंक तक जी तोड़ 'पार्ट' करके आप कुछ 'थक' से गए हैं—अभी

तीसरे अंक में भी पार्ट करना है—एक 'औषध' ले लीजिए। यह तो आपको मालूम ही है कि आपका यह सेवक 'सुल्फ़ा' पीता है। आज आप भी 'दम' लगालें। शिष्य—यही अपनी प्यारी वस्तु—आज आपको भेंट करेगा।" मैंने कभी 'सुल्फ़ा' नहीं पिया था। पर उस रोज़ पहली दम लगाई।

खेल जब ख़त्म हुआ तो कम्पनी के तीसरे मालिक—मि० फ़ामरोज़ करंजिया—मुझसे लिपट गए—और बड़े ही प्रेम से बोले—"नाटकसंसार की यही मेरी सर्वश्रेष्ठ रात है—और यही शायद अन्तिम। अब ऐसा आनन्द कभी न मिलेगा।" फ़ामरोज़ से मेरा बड़ा प्रेम था, अब भी है। मैंने उन्हें सदा 'सन्त' समझा है। उन्हीं से मैं कम्पनी में हँसा करता था। वे कभी चुपके से—मेरे जनेऊ से 'ताली' खोलकर मुझे नचाते थे, तो मैं कभी उनकी 'पतलून' की मज़ाक़ उड़ाकर—उन्हें चिढ़ाता था। कैसे प्यारे थे वे दिन! कहानी सी रह गई। भाई फ़ामरोज़ बम्बई ही के आस पास आजकल 'खेती का धन्धा' करते हैं। इस प्रकार—एक ही रात—केवल एक ही रात—मुझे 'पार्ट' भी करना पड़ा। मैं चाहता तो 'ऐक्टर' होकर भी 'न्यू अल्फ़ ्रेड' की सेवा करता—उस सूरत में मुझे ढेढ़, दो हज़ार मासिक तक वेतन मिल सकता था—पर मैं तो 'कथावाचक' ही रहना चाहता था।

मेरा नाटक-काल

तरुणावस्था

(उत्तरार्द्ध)

इस अध्याय में मेरे ४१ वें वर्ष से शुरू होकर ५० वें वर्ष तक के हालात हैं। सन् १९३१ ई० से १९४० ई० तक के। प्रसङ्गानुसार कुछ उससे पहले के भी जोड़ दिए हैं।

२१ फ़र्वरी सन १९३० को देहली से चलकर—जैसे ही मैं बरेली आया तो अपने आदरणीय डाक्टर 'श्रीश्यामस्वरूप सत्यव्रत' से स्वास्थ्य की जाँच कराई। उन्होंने दो रायें क़ायम कीं :—

१—"यह सही है कि दिमाग़ का काम सोचने का है—वह अपना काम करेगा ही, उसे अपना काम करना भी चाहिए। पर कौनसा काम ? और कितना काम ? जिस काम में उसका गम (उसकी पहुँच) हो, और जहाँ तक वह थकान महसूस न करे। दिमाग़ सोचता है तो—नीचे की वायु ऊपर चढ़ती है, अगर वह दिमाग़ बहुत ज्यादा सोचता ही रहे—उसे

आराम और तफ़रीह न मिले, तो वायु के चढ़े रहने ही के कारण—'पेट' को वायु का बल पूरा नहीं प्राप्त होता है, ऐसी अवस्था में—अजीर्ण, मन्दाग्नि, आदि रोग शुरू होते हैं। उस समय 'पथ्य' भोजन पर ध्यान न देकर अनापशनाप भोजन भी यदि जारी रहता है—तो पेट फूल जाता है, बवासीर, संग्रहणी, ज़लोदर आदि भयानक बीमारियों का शिकार होना पड़ता है।

तुम दिमाग़ से बहुत ज़्यादा काम ले रहे हो। हर क्षण तुम्हारा दिमाग़ कुछ न कुछ सोचता ही रहता है—किसी न किसी चिन्ता में निमग्न ही रहता है। शायरी—कथा-सम्बन्धी'—क्या कम थी? उसपर 'नाटक लेखन' और बढ़ाया। फिर हिन्दुस्तान भर में 'कथाएँ' कहने के सिलसिले में न ठीक समय पर 'भोजन'— न ठीक समय पर 'शयन'। फिर भोजन में भी नित्य गरिष्ठ पदार्थ। 'शयन' के समय भी 'शेर' बन रही है। नींद फिर कहाँ? जब शेरें पूरी बन गईं—तब—'भोजन'। फिर चाहे रात के बारह बजे हों या एक या दो। बिना भोजन किए उस समय नींद नहीं आएगी। 'कथा' बाँचकर रात के ११ बजे आए—उस समय कहीं—'शेरें' लिखने की सूझ गई-तब तो रात के दो—तीन बजे भोजन होगा ही।—यह भी कोई नियमित, मर्यादित और शरीर के स्वास्थ्य को बनाए रखनेवाला जीवन है? एक दम—'फक्कड़ी' या 'औघड़ी' ज़िन्दगी है। अच्छा 'कथा' और

'नाटक' दो भारों का वहन करते हुए भी—'प्रेस' और 'पुस्तक प्रकाशन' का बोझ भी उसी दिमाग़ पर और डाल देना क्या ज्यादती नहीं है ? रुपया बढ़ रहा है—तो मकान पर मकान खरीदे जारहे हैं, लेन देन का बिज़नेस भी चला दिया है, उसके सिलसिले में मुक़दमेदारियाँ भी होरही हैं। घर में—कोई कंधे से कंधा भिड़ाकर काम करता नहीं है—अकेली ही जान पर इतना तूफ़ान तुमने उठा रक्खा है—तब स्वास्थ्य क्यों न गिरे ?

२—'कथाएँ' कहने में ख़ूब चीखना, चिल्लाना पड़ा है, उससे गले के भीतर की रगें, नसें, फटफटा कर कुछ अजीब सी होगई हैं,—वहीं से खाँसी शुरू होती है—खाँसी शुरू होने पर—दिमाग़ अगर किसी चिन्ता में है—तो—ऊपर जाते वाली वायु का घुमेड़ा खाँसी को बन्द होने ही नहीं देता है।"

क्या जाने डाक्टर श्यामस्वरूप ही की राय सही हो ? कई दिन की स्वास्थ्य परीक्षा के बाद—उन्होंने ऐसा खयाल ज़ाहिर किया था। वे मेरे विश्वासी मित्र तो थे ही। ख़ैर, उन दिनों तो उन्होंने कई 'मिक्सचर' पिलाकर, और 'इन्जेक्शन' लगाकर, मुझे कुछ ठीक कर दिया और नैनीताल, अल्मोड़ा घूमने की राय दी। मैं गया भी। लौटकर—अपने को कुछ ठीक भी पाया। डाक्टरसाहब के 'भाषण' को मैं अबतक नहीं भूला। स्वास्थ्य का ध्यान तो कुछ न कुछ तब से रक्खा ही। इसी कारण उम्र के ६६ वें वर्ष में पहुँच गया हूँ। फिर

भी जो रोग—वायु का और खाँसी का लगा था—वह तो नहीं ही गया। आज तक नहीं गया।

मैंने जब अन्तिम निर्णय कर लिया था कि 'न्यू अल्फ्रेड' की नौकरी छोड़ दूँगा तो शुरू अगस्त (सन् ३०) में—कम्पनी जब 'मथुरा' थी—उस समय एक दिन को मैं वहाँ गया और अपना 'त्याग-पत्र' कम्पनी के मालिकों से स्वीकार करा लिया। एक बात और भी थी—उसके लिए भी 'मथुरा' गया था। 'पेशावर' में जब मेरी नौकरी शुरू हुई थी-तो कम्पनी के मालिकों से यह तो शर्त होगई थी कि अपने लिखे सब नाटकों का मुद्रण, प्रकाशन और बिक्री का अधिकार मुझे या मेरे 'राधेश्याम पुस्तकालय' को रहेगा। पर उसके साथ कम्पनी के मालिकों ने एक यह शर्त लगा रक्खी थी कि अन्तिम नाटक छापकर प्रकाशित न कर सकोगे। जब उससे आगे—फिर एक नाटक—कम्पनी में निकाल दोगे—तब उसे छाप सकोगे। क्योंकि फिर तो वह नया नाटक—अन्तिम नाटक कहलाएगा। मथुरा जाकर मैंने कम्पनी के मालिकों से कहा कि अब तो अन्तिम नाटक छापने की भी आज्ञा दे दो। उन्होंने देदी। मैंने लौटकर—वह नाटक भी—प्रेस से छपवाकर प्रकाशित कर दिया। कम्पनी के मालिकान से मैं यह भी कह आया था कि 'सम्बन्ध विच्छेद' तो (अगस्त सन् ३०) मैं कर रहा हूँ—पर वेतन २१ फ़र्वरी सन् ३०

तक का ही लूँगा—क्योंकि अपने दिल से तो मैंने तभी 'नौकरी' छोड़ी थी। फिर तब से अबतक कम्पनी की कोई सेवा भी नहीं की है। ऐसी ही मैंने तब एक 'विज्ञप्ति' भी निकाली जो निम्नलिखित है—

मेरी 'न्यू अल्फ्रे़ड' से विदाई—

खेद है कि २१ फ़र्वरी सन् १९३० को यकायक मेरा स्वास्थ्य ख़राब हो जाने के कारण, अपनी प्यारी 'न्यू अल्फ्रे़ड' कम्पनी से मुझे विदाई लेनी पड़ी है। अपने अनेकानेक मित्रों को, पृथक् पृथक् लिखकर सूचना देने में बड़ी तवालत थी, अतएव मुझे यह पर्चा छपाकर सब के पास पहुँचाना ही उचित जान पड़ा है।

यों तो सन् १९१४ से मेरा 'न्यू अल्फ्रे़ड' से सम्बन्ध रहा है। मेरा पहला नाटक 'वीर अभिमन्यु' उन्हीं दिनों स्टेज हुआ था, उसके बाद दूसरा नाटक 'परम भक्त प्रह्लाद' मैंने दिया था। यह उन दिनों की बात है-जब कि मेरे श्रद्धेय मि० सोराबजी फ्रामजी ओग्रा कम्पनी के डाइरेक्टर थे। पर इधर १५ नवम्बर १९२४ से कम्पनी से मेरा वैतनिक सम्बन्ध हो गया था, जो स्वास्थ्य ख़राब हो जाने के कारण मुझे समाप्त करना पड़ा है।

इसमें सन्देह नहीं कि कम्पनी के मालिकान ने मुझे जितना सुख, आदर, और मान दिया है उसका मैं आजीवन आभारी रहूँगा। कम्पनी के भीतर उनका हुक्म चाहे टल जाय, पर मेरा हुक्म नहीं टलता था, यह उनके आदर और मान ही का परिणाम था। मैं समझता हूँ कि भारतवर्ष की किसी भी नाटक कम्पनी के मालिक ने, शायद ही किसी नाटककार को ऐसी शरायत पर कम्पनी में रक्खा हो, जिन शरायत पर मुझे मेरी प्यारी 'न्यू अल्फ्रेड' के मालिकों ने रक्खा था। अपनी बात के प्रमाण में मैं यहाँ उन शरायत का ज़िक्र कर देना उचित समझता हूँ।

(१) मैं कम्पनी में बारहों महीने नहीं रहता था, मुश्किल से साल में ३–४ महीने रहता था, वह भी उस समय-जब कि नया नाटक स्टेज होता था। बाक़ी महीनों में मैं आज़ाद था-चाहे जहाँ रहूँ।

(२) मैं जब जब कम्पनी में आता था तो मुझे आने जाने का सेकिण्ड क्लास का रेलभाड़ा मय नौकर के भाड़े के दिया जाता था। इसके अलावा रहने को आरास्ता (बिजली पंखा आदि सहित) मकान दिया जाता था। भोजनादि को ५) रोज़ भत्ता दिया जाता था।

(३) मैं अपने लिखे हुए तमाम नाटकों को, अपने 'राधेश्याम पुस्तकालय' से छापकर प्रकाशित करता रहा हूँ। इसकी मुझे खुली इजाज़त थी और है।

(४) तनख़्वाह भी कम नहीं मिली है। मुझे भत्ता मिलाकर ७५०) रुपया माहवार दिया जाता था, और मेरे छोटे भाई मदनमोहनलाल को असिस्टण्ट ड्रामाटिस्ट की हैसियत से १००) माहवार दिया जाता था। इस प्रकार कम्पनी का ८५०) माहवार हमारे सम्बन्ध में ख़र्च होता था। कैसी उदारतापूर्ण शरायत हैं। इन्हीं से आप समझ सकते हैं कि इस कम्पनी के मालिकान कितने उदार हैं। परमात्मा उन्हें प्रसन्न रक्खे।

इन साढ़े पाँच वर्षों में मैंने निम्नलिखित ७ नाटक स्टेज कराये:—

सन् १९२५ में	"परिवर्तन"
सन् १९२६ में	"मशरिक़ी हूर"
फिर सन् १९२६ ही में	"श्रीकृष्णावतार"
सन् १९२७ में	"रुक्मिणी मंगल"
सन् १९२८ में	"श्रवणकुमार"
सन् १९२९ में	"ईश्वर भक्ति"
फिर सन् १९२९ ही में	"द्रौपदी स्वयम्वर"

'परिवर्तन' मेरा पहले का [सन् १९१६–१९१७ का] लिखा हुआ ड्रामा था, जिसे मैंने वैतनिक सम्बन्ध होते ही कम्पनी के में स्टेज कराया, तथा 'श्रवणकुमार' मेरा वह नाटक है जिसे मैंने 'सूरविजय नाटक समाज' के लिए दिया था। उक्त कम्पनी टूट जाने के कारण मैंने इस नाटक को अपनी 'न्यू अल्फ़्रेड' में

स्टेज करा दिया। कम्पनी की सर्विस के ज़माने में तो मैं ने-पीछे जिनका ज़िक्र है, वे पाँच ही नाटक लिखे हैं। इस प्रकार प्रति वर्ष एक नाटक लिखकर स्टेज कराने ही का औसत रहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि इधर प्रेस का काम-कभी कभी कथा का काम-और उधर नाटक लिख लिख कर देना ही नहीं; स्टेज भी कराने का काम-सब मिलाकर मैंने इन वर्षों में 'ओवर वर्क' ही किया है, जिसके कारण आज मेरा स्वास्थ्य ख़राब है। पर मैंने यह जो कुछ भी किया है-वह कर्तव्य समझ कर किया है, इसलिए परमात्मा ज़रूर मेरी मदद करेगा और शीघ्र ही मैं स्वस्थ्य होऊँगा।

भारत के महामान्य, पूज्यपाद पं० मदनमोहन मालवीय, कभी किसी पेशेवर नाटक मण्डली में नाटक देखने नहीं पधारे हैं। पर मैं अपनी कम्पनी में उन्हें दो बार (दो नाटकों का अभिनय दिखाने) लाया। मेरे भाई इन्द्र (स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द के सुपुत्र) ने तो 'श्रवणकुमार' नाटक की ओपनिङ्ग सेरिमनी ही कराई है। 'ईश्वर-भक्ति' नाटक की ओपनिङ्ग सेरिमनी-मेरी प्रार्थना पर-भारत के श्रद्धेय, त्यागवीर पं० मोतीलाल जी नेहरू ने की है, वह भी उस साल-जिस साल वे इण्डियन नेशनल काँग्रेस के प्रेज़ीडेण्ट थे।

इनके अतिरिक्त देश के अनेक नेतागण, सनातन धर्म्मी तथा अन्य धर्म्मावलम्बी-विद्वान् पण्डितवर्य्य एवं राजा महाराजा मेरे अनुरोध पर समय समय पर पधार कर मुझे आभारी करते रहे हैं, आज मैं उन सब का कृतज्ञ हूँ।

मुझे हर्ष है कि मैंने इन नाटकों द्वारा हिन्दी की सेवा की है. हिन्दुत्व को आगे बढ़ाया है और धार्मिक भावों का प्रचार किया है। यह सब होजाने का एक यह भी सुभीता था कि 'न्यू अल्फ्रेड' में वेश्यायें नहीं रहती थीं, तथा धार्मिक पार्ट-ब्राह्मण बालक ही किया करते थे।

आज तो कम्पनी में कई नामी ऐक्टर हैं, परन्तु मेरी सर्विस के ज़माने में कम्पनी में न कोई ज़्यादा ऐक्टर था-न कोई डाइरेक्टर था। फिर भी कम्पनी को जितना मान मिला, जितनी ख्याति मिली उसके लिए मुझे-मेरी कम्पनी के मालिकान को-तथा मेरे उन एक दो आज्ञाकारी शिष्यों को-जो इस कम्पनी ही में आज चीफ़ ऐक्टर के पद को पहुँच रहे हैं—शुद्ध हृदय से ईश्वर की कृपाओं का पूर्ण आभारी होना चाहिए-और क्या कहूँ!

इन चन्द शब्दों के साथ, मैं अपनी प्यारी 'न्यू अल्फ्रेड' से विदा हो रहा हूँ।

बरेली।
२१-८-१९३०

भवदीय—
राधेश्याम कथावाचक

—:०:—

इस विज्ञप्ति को 'समाचारपत्रों' के सम्पादकों ने भी अपने अपने पत्रों में प्रकाशित कर दिया। मेरा इस विज्ञप्ति से यही अभिप्राय था कि मेरी ग़ैरहाजिरी में अब आगे यदि 'न्यू अल्फ़्रेड' कमजोर पड़ गई—तो मेरे नाम को 'धब्बा' न लगे;—मेरी 'बदनामी' न हो। लेकिन कम्पनी के मालिकों को यह ख़याल हुआ कि इस 'विज्ञप्ति' ही के कारण कम्पनी कमज़ोर पड़ सकती है—जब जनता यह जान गई कि 'राधेश्याम' का सम्बन्ध अब कम्पनी से नहीं है—तो उसकी नज़र में 'न्यू अल्फ़्रेड' की वह शान नहीं रहेगी। अपने इसी ख़याल के नशे में—उन्होंने (कम्पनी के मालिकों ने) मुझे एक 'नोटिस' दिया कि—'नाटक छापने की आज्ञा हम ख़ारिज करते हैं-वापिस लेते हैं'। मुझे यह नोटिस पढ़कर दुःख हुआ। यह भी ख़याल आया कि संसार इतना बेमुरव्वत है?—किसी ने जी जान लगा कर—किसी 'फ़र्म' को तरक्क़ी दी हो, उसे ख़ूब बढ़ाया हो तो अपने उसी कार्यकर्ता के 'रिटायर्ड' होने पर-उसके साथ—ऐसा व्यवहार भी करने में नहीं हिचकिचाते हैं 'फ़र्म' वाले? अगर ऐसा ही संसार है—तो मेरा इस संसार को शत शत प्रणाम।

शाम को मेरे मित्र बाबू छैलबिहारी कपूर जब मेरे यहाँ आए और उन्होंने यह नोटिस देखा तो मुझसे कहा—"तुम एक विशेष कार्य करने संसार में आए

थे—रामनाम का प्रचार और नाटकों द्वारा हिन्दी की सेवा। तुम्हारी रामायण ने जनता को 'तुलसी रामायण-पढ़ना' सिखाया है। तुम्हारे हिन्दी नाटक—आगे किसी समय—हिन्दी में कालिदास और शेक्सपियर पैदा करेंगे। तुम पतन और उत्थान के बीच की कड़ी हो।" कपूरसाहब ने फिर कहा—"तुम दुनियादार नहीं हो, बन भी न पाओगे, बनने की कोशिश भी मत करो, दुनियादार तो 'धन' के पीछे अपना धर्म, कर्म, ज़ुबान, ईमान, सब नष्ट कर देता है, यद्यपि वह धन थोड़े ही दिन की हवा होती है, मरने पर यहीं धरा रहता है। कौन याद करता है ऐसे दुनियादार को? पर तुम? तुम तो अपनी कृति से (रामायण और नाटकों से) अमर हो गए हो। आदर के साथ जनता—जैसे अब तुम्हारा नाम लेती है—उससे कहीं ज्यादा बाद में लेगी।" उन्होंने फिर कहा—"मैं जब 'पूना' गया था—तो—एक 'मारवाड़ी भोजनालय' में 'भोजन' करने चला गया था, वहाँ भोजन परसने वाले एक व्यक्ति ने मुझसे पूछा—कहाँ के रहने वाले हो? मैंने कहा—"बरेली के।" उसने कहा—"उसी बरेली के—जहाँ 'राधेश्याम कथावाचक' रहते हैं? राधेश्याम की बरेली के?" कपूर साहब ने फिर कहा—"बरेली में जन्म लेकर तुम इतने बढ़े कि बरेली तुम्हारे नामसे विख्यात हुई—तुम अपने व्यक्तित्व ही को बढ़ाते रहो। दुनियादारी हम पर और अपने बच्चों पर छोड़ो।"

अगले दिन बाबू छैल बिहारी ने कम्पनी के मालिकों को नोटिस का जवाब दिया।—"२१ फ़र्वरी (सन् ३०) से—२१ अगस्त (सन् ३०)—जिस दिन कि वास्तव में नौकरी छोड़ी है—उस दिन तक का 'वेतन' आप पर ड्यू (Due) है—उसे 'मार लेने' ही की दृष्टि से आपने झूठा और ख़ामख़ाह का हमें 'नोटिस' दिया है—आप हमारे सब रुपए १५ दिन में दे जाइए, वर्ना हम नालिश कर देंगे।" नोटिस पहुँचते ही कम्पनी के मालिकों में हड़बड़ाहट पैदा हुइ। उनका मेहता (मुनीम) बरेली आया—कि नालिश न कीजिए, चल कर समझौता कीजिए।—कम्पनी तब 'रामपुर' थी—मैं उसी दिन 'रामपुर' गया। समझौता वही हुआ—'राधेश्याम प्रेस' से 'राधेश्याम' के सभी नाटक छपते—निकलते रहेंगे। और वेतन २१ फ़र्वरी तक का ही रहेगा। मैं तो पहले ही २१ फ़र्वरी तक का ही वेतन चाहता था—पर दुनियादारों की दुनियादारी ने इतना चक्कर डाल दिया। चक्कर तो फिर भी एक और डाल दिया। रामपुर में जब समझौते का काग़ज़ लिखा गया तो उन्होंने एक वाक्य यह भी लिखवा दिया--'कम्पनी भी नाटक छपवाकर बेच सकती है।' और यह वाक्य लिखवाया इसलिए कि प्रत्येक नाटक के गाने की किताबें तो कम्पनी छपवाकर—खेल के समय बेचा ही करती थी। मैंने उस वाक्य को न्याय संगत ही समझा और मान लिया। न जानें क्यों? ऐसे मौक़ों पर मैं सामने वाली पार्टी पर विश्वास ही करता रहा

हूँ। जिस व्यक्ति या पार्टी से मैं मिला हूँ—स्वयं उसका विश्वासी बना हूँ और उसे भी अपना विश्वासी माना है। लेकिन एक—दो नहीं—कई ऐसे अनुभव हुए हैं कि विश्वासियों ही ने धोखा दिया है। मुझे आर्थिक हानि पहुँचाई है। कवि और कथावाचक तो अपनी कल्पना और भावना ही में प्रत्येक समय मस्त रहता है—दुनियादारी की चक्करदार बातें और ऐयाराना तरीक़े वाले व्यक्ति—और फिर विश्वासी व्यक्ति— जब अपने हथकण्डों—क़ानूनी ढँगों से उस सीधे—सच्चे प्राणी को सताते हैं—तो उसका आत्मा तक काँप उठता है—ऐसी ही दुःख-कहानी इस नाटक की कहानी के भीतर भी यह है। पढ़िए—

मथुरा के एक प्रकाशक ने--कम्पनी में जाकर— मालिकों को मुँह माँगा रुपया देकर—मेरे नाटक छाप डाले। छापने का ढङ्ग यह था कि लेखक की जगह मेरा ही नाम था,—मुखपृष्ठ पर मेरा ही फ़ोटो था--जैसा 'राधेश्याम प्रेस' से छपता है। और प्रकाशक की जगह था - मि० माणिक शा बलसारा मैनेजिंग प्रोप्राइटर—न्यू अल्फ़्रेड नाटक कम्पनी। यह नाटक छपते ही रहे। 'राधेश्यामप्रेस' से छपे हुए नाटकों से—कम दामों पर—बाज़ार में बिकते ही रहे! अब पाठक ही महसूस करें कि इस हर्कत से—ललित कला के पुजारी के कोमल कलेवर पर कितनी ठेस लगी होगी !—यह है वह दुनिया कि जिस में हम 'आदर्श' लेकर—लिखते और बोलते

हैं। 'दिल' खोलकर अपनों से मिलते हैं। जब 'दौलत की दुनिया' में ऐसी धाँधली रहती है—और सभी अपनों बेगानों में रहती है—तो क्यों न इस दौलत की दुनिया से 'तटस्थ' होने को जी अकुलाये!

कालान्तर में जब—'न्यू अल्फ़्रेड' बहुत ही कमज़ोर हो गई और बरेली आई तो मेरे पुत्र घनश्याम ने और बाबू छैलबिहारी कपूर ने उसके मालिकों को मुँह माँगा रुपया देकर—मेरे सभी ड्रामों का—मेरे ही ड्रामों का नहीं—'न्यू अल्फ़्रेड' की मिलकियत के--सभी ड्रामों का--जो मुझसे पहले के अन्य लेखकों के भी थे—स्टाम्प पर लिखवाकर—रजिस्ट्री कराकर—मुकम्मिल 'कापीराइट' ख़रीदा;—जिसमें यह भी है कि कम्पनी अब स्वयं भी न छाप सकेगी। यह भी है कि कम्पनी टूट जायगी तो फिर स्टेज करने का भी हक़ उसके मालिकों को न रहेगा।

अब मैं फिर पीछे लौटता हूँ—२१ अगस्त सन् ३० के बाद मैं तो 'स्वास्थ्य सँभालने' की दृष्टि से—पहाड़ी स्थानों के पर्यटन में रहा। उधर 'न्यू अल्फ़्रेड' में एक 'मुसलमान ऐक्टर' ने आकर - अपनी एक 'कहानी' कम्पनी के मालिकों को सुनाकर 'पास' करा ली। कम्पनी के मालिक 'कहानी' और 'नाटक लेखन' की बातों को समझने की बारीकी से भला कहाँ वाक़िफ़ थे? वे तो इन्तिज़ाम और कमाई ही के मर्मों के जानकार थे। ऐसे मालिकों को—कोई भी बातून (Glib Tongue) अपने

प्रभाव में ला सकता था। 'कला से कमज़ोर'—लेकिन बोलने और मुख की आकृति बनाने में पूर्ण पटु—ख़ुशामदी, और मतलबी आदमी—ऐसे मौक़ों पर ऐसी अँधेरी डालता है कि नाटक कम्पनी ही क्या; बड़ी से बड़ी संस्था में घुस जाता है—और कुछ समय तक ख़ूब मतलब गाँठता है—लग गया तो 'तीर' नहीं तो 'तुक्का' ही सही—की कहावत के अनुसार उस 'संस्था' के नुक़सान का ख़याल न करके अपना स्वार्थ साधता है।

उस समय ही क्यों ? आज भी तो 'फ़िल्मी दुनिया' में यही हो रहा है। इसी कारण- समझदार चीख़ रहे हैं—और पैसेवाले गलते जारहे हैं। यही कारण है कि 'भारतीय सिनेमा संसार' आज तक समाज को 'अच्छी चीज़ें'—अच्छी संख्या में—नहीं देरहा है और ख़ुद भी—नुक़सान उठा रहा है।

इतना तो उस समय अच्छा ही हुआ—कि उस 'लचड़ कहानी' के सम्वाद और गीत लिखने के लिए—कानपुर से श्रीविश्वम्भरनाथ कौशिक को बुलाया गया। लेकिन—इसी 'प्लाट' पर उन्हें 'डायलाग' लिखने होंगे—इस बन्धन में उन्हें बाँध दिया गया। परिणाम यह हुआ—डायलाग सुन्दर, भाषा सजीव; एक विद्वान् लेखक को लिखी हुई। पर 'नाटक'—'फ़ेल'। मेरे बरेली के पते पर तब कई पत्र मुझे बुलाने के लिए—आए—पर मैं तो सपत्नीक उन दिनों 'ज्वालाजी' और 'कुल्लू' की तीर्थयात्रा और पहाड़ी सैर में था। होली (सन् १९३१) में

जब घर आया तो वे सब पत्रादि देखे। पुराने सन्बन्ध ने उत्साहित किया और मेरठ (नौचन्दी में जब कम्पनी थी) पहुँचा। मालूम हुआ काफ़ी रुपया इस नाटक पर कम्पनी ने खर्च किया है। अब अगर यह 'फ़ेल' ही रहेगा तो बड़ा नुक़्सान उठाना पड़ेगा। मैं ने 'ड्रामा' देखा। कौशिक जी से उनकी लेखनी की प्रशंसा की—साथ ही कहा—"लचड़ कहानी को भी बदल देते।" वे सज्जन पुरुष थे-बोल उठे-"मैं तो अपनी सज्जनता पर ही रहा, जैसा मालिकों ने कहा - वैसा किया।" मैं ने कहा—"भैया, यह नाटक कम्पनी है, यहाँ किसी किसी समय 'दबकना'—'नुक़्सानदेह' होता है। 'अकड़' और 'करारापन' ही उस समय काम करता है।"

यह भी मुझे मालूम हुआ कि देहली की-सनातनधर्मी जनता ने इस नाटक पर कुछ एतराज़ भी किए थे। एक—दो दिन नाटक बन्द भी रहा था। तब मैं ने किताब में से वे अंश तो काट दिये; और नाटक का नाम—'हिन्दू विधवा' की जगह 'सुधरा ज़माना' रखाकर 'नौचन्दी' में खिलवाया। फिर भी नाटक तो 'कमजोर' ही रहा। कमजोरी का सब से बड़ा कारण यह था कि उसका कोई भी कैरेक्टर (चरित्र) आदि से अन्त तक पूरा नहीं चलता था। स्टेज पर एक 'पार्ट' करने वाला आया— तो कुछ सीनों ही में वह मर गया—या स्टेज से हट गया। इतनी बड़ी मिस्टेक ? 'कथानक' कोई भी नहीं चल सकता—जिस में कि 'राम' और 'रावण' अलग अलग न हों—और

अन्त तक न हों। 'राम' से 'हमदर्दी' हो जाने पर—जनता उन के दुःख से दुखी होती है और सुख से सुखी। 'रावण' से नफ़रत हो जाने पर—उसकी जय से ग़म होता है—और उस की पराजय से ख़ुशी। यही तो 'कथानकों' का असली गुर है।

इसके बाद भी कम्पनी जब कमज़ोर पड़ी तो हरिद्वार में—फिर मुझे बुलाया गया। तब मैंने देखा—एक एक कर के—कम्पनी के सभी रत्न विदा हो चुके हैं। वासुदेव (पेण्टर), मोहम्मदअली (दर्ज़ी), निहालचन्द (हारमोनियम मास्टर), ग़ुलाम हुसेन (तबला मास्टर), ऐक्टरों में भी—नन्दकिशोर, फीरोज़शाह जैसे ऐक्टर तब नहीं थे। मैंने उस समय हरिद्वार में कम्पनी की इतनी ही सेवा की कि अपना सम्पादन किया हुआ नाटक 'गंगावतरण' (जो 'सूरविजय' के टूट जाने के कारण बन्द पड़ा था) तीन ही दिन में 'प्राम्प्ट' पर खिलवाया, इसका 'पुरस्कार' मैंने कुछ नहीं लिया। सिर्फ़ पहले दिन की आमदनी 'ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम' को दिलवादी। और 'गंगा' न्हाकर बरेली आगया।

इसके बाद तो कम्पनी में 'औरतें' भी नौकर रक्खी गई हैं। चौबे रामकृष्ण तथा फ़िदाहुसैन (जिसे मैं कभी कभी 'प्रेमशङ्कर' कहकर भी पुकारता था) यहाँ तक कि नर्मदाशङ्कर तक ने भी कम्पनी को छोड़ा है। पेशेवर मुसल्मान ऐक्टरों ने आकर—'लैला मजनूँ' और 'शीरीं फ़रहाद' खेल खेलकर कुछ समय कम्पनी चलाई है। वह कम्पनी—जिसके

पवित्र ड्रामे देखने—पैसेवाली हिन्दू जनता—सपरिवार—आया करती थी—अब निम्न कोटि की 'कम्पनी' हो गई। निम्न कोटि की निर्धन जनता—इतनी बड़ी कम्पनी को कैसे चला सकती थी ? आखिर कम्पनी 'मक़रूज़' हुई। 'गिर्वी' पड़ी और फिर अन्त में—बन्द ही हुई।—

हुई 'न्यू अल्फ़्रेड' तुझ पर भी वही सादिक़ मिसाल—
"हर ज़वाले रा कमाले, हर कमाले रा ज़वाल।"

सन् १९२७ में—कुछ मित्रों के आग्रह से—मुझे 'कलकत्ता' जाना पड़ा था। जाने के पहले—मेरे मन में—बार बार यह भी 'लहर' उठती थी—कि क्यों न 'न्यू अल्फ़्रेड' कलकत्ता जाए और 'मैडन थिएटर' से—'टक्कर' ले। जो हिन्दुस्तान भर के—हिन्दी उर्दू भाषाभाषी ऐक्टरों को—दूसरी दूसरी कम्पनियों से तोड़ तोड़ कर—अपने यहाँ एकत्रित कर रहा था--जो बम्बई की अच्छी अच्छी थिएट्रिकल कम्पनियों को—जब वे कमज़ोर पड़ती थीं—ख़रीद ख़रीद कर—नाटकसंसार का 'एकच्छत्र व्यापारी' बनना चाहता था।

'कलकत्ते' के साहित्य सेवियों ने तब निश्चय ही—बड़ी उदारता और प्रीति से मेरा स्वागत किया। देहली के सम्पादकों की भाँति—कलकत्ते के हिन्दी लेखकों और सम्पादकों को भी मैंने ऐसा ही पाया कि वे अपने 'छोटे से कलाकार' को भी 'बड़े रूप' में जनता के सम्मुख लाते हैं। सम्भव

है—यह गुण उनमें 'बंगालियों' से आया हो। क्योंकि बंगाली—बंगाली को आगे बढ़ाने में सदा तत्पर रहते हैं। आज भी बँगला सिनेमा वाले—'शरच्चन्द्र' की कहानियाँ 'फ़िल्मों' में पहुँचा-पहुँचा कर उन्हें आगे बढ़ाते जारहे हैं। यद्यपि मैं जानता हूँ—हिन्दी के 'प्रेमचन्द' भी उनसे किसी प्रकार कम नहीं हैं।

मैं—प० नरोत्तम व्यास के यहाँ—हैरिसनरोड में ठहरा था। व्यासजी की जन्मभूमि 'मुरादाबाद' है। जब मैं 'मुरादाबाद' में कथायें कहता था तो व्यासजी के पिताजी ने भी अपने यहाँ मेरी 'कथा' बिठलाई थी और मुझे 'पुत्रवत्' समझा था। 'नरोत्तम' से तभी मेरा स्नेह हुआ था—तब से आज तक वे मुझे 'अग्रज' मानते रहे हैं—और मैं उन्हें अनुज'। नरोत्तमजी व्यास ने 'कलकत्ते' में रहकर—हिन्दी की बड़ी सेवा की है, कई पत्रों के सम्पादन में रहे हैं, स्वयं भी 'पत्र' निकाले हैं—और पुस्तकें? पुस्तकें तो सौ से भी ज्यादा लिखी होंगी। बँगला के आप अच्छे जानकार हैं। जानकार तो मराठी, गुजराती के भी हैं।

'कलकत्ते' में—अलग अलग स्थानों में—मेरा 'कथा प्रवचन' हुआ। प० लक्ष्मण नारायण गर्देजी से मेरा वहीं परिचय हुआ था—यह इतना बढ़ा कि मैं ने उन्हें बरेली बुलवाकर—एक मास तक सादर उनकी 'गीता कथा' का 'राधेश्याम-भवन' के 'कथा हाल' (Katha Hall) में 'प्रवचन' कराया। गर्देजी जैसे

सुन्दर हिन्दी लेखक हैं—वैसे ही शान्त, शुद्ध, उच्चकोटि के ब्राह्मण हैं। पराड़करजी, और गर्देजी ने मराठे होकर भी—जो हिन्दी सेवा की है—हिन्दी ससार को उसका सदा 'ऋणी' रहना चाहिए। 'भाषा' के सम्बन्ध में—'विरोधी' विचार रखने वाले- महाराष्ट्रियों को भी—अपने इन दोनों महाराष्ट्रीय बुज़ुर्गों के—हिन्दी प्रेम—और हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनानेवाले आदर्श को –भूलना नहीं चाहिए—बल्कि—सदैव अपने सामने रखना चाहिए।

प्रत्येक खाली रात्रि को—'मैडन' के 'करन्थियन थिएटर' के नाटक मैं ने देखे। मैं ने वहाँ देखा कि एक नहीं—अनेकानेक स्त्रियाँ भी हैं—'गोरी मेमें' तक। उर्दू नाटकों में- अधिकतर कलकत्ते के मुसल्मानों को मैं देखता था। और हिन्दी नाटकों में 'मारवाड़ी युवकों' को।

'नाटकत्व' का आनन्द वे लोग कितना लेते थे --यह तो मैं नहीं बतासकता;-पर सुन्दरियों के रूप का तो पूरा ही 'आकर्षण' था उनपर। इसी एक 'बात' के कारण मैं असमंजस में पड़ा कि--'न्यू अल्फ्रेड' इस कम्पनी से मुक़ाबिला कर सकती है या नहीं ?- क्योंकि उसमें तो स्त्रियाँ ही नहीं रहती हैं।

श्री आग़ाहश्र--उस कम्पनी के माने हुए नाटककार थे, उनका आदर भी-वहां-यथेष्ट था। यों तो 'श्रीहरिकृष्ण जौहर' और—'श्रीतुलसीदत्त शैदा'—नाटककार--का भी वहाँ सम्बन्ध काफ़ी रहा है।

श्री आग़ाहश्र -से मेरी कई मुलाक़ातें हुईं। बहुत ही मिलनसार, दोस्ततबीयत के आदमी थे--बरेली भी तो २-३ बार मेरे यहाँ (मकान पर) आए हैं। एक बार अपनी 'शेक्सपियर थिएट्रिकल कम्पनी' लेकर, दूसरी बार 'ग्रेट अल्फ्रेड' लेकर। कम्पनियाँ बनाकर भी चला न सके। शायर की मौजी ज़िन्दगी अलग चीज़ है और बिज़नेसमैन के निन्यानवे का फेर पृथक् वस्तु। इन दोनों का मिलान हो ही नहीं सकता। इन दो नावों पर पैर रखने वाला--सफल हो ही नहीं सकता। श्री आग़ाहश्र ने--जब यह समझ लिया था--तो 'नाटककार' ही रहने का उन्हों ने- मज़बूत इरादा कर लिया था। कलकत्ते में उन्हों ने मुझ से कहा--"सभी सब्जैक्टों पर ड्रामे लिख जाएँ हम तुम, ताकि आने वाले नाटककारों को सब्जैक्ट ही न रहें!" कैसी महत्त्वाकाँक्षा थी मेरे दोस्त में! शादी तो उन्हों ने की नहीं थी, एक ही रंग था--'नाटक-लेखन' का। इसीसे वे .ख़ूब आगे बढ़े। ख़र्चीले इतने थे कि नए नाटक से जो ४-५ हज़ार रुपए मिलते थे—उन्हें ४-५ महीने भीं नहीं चला सकते थे। एक दिन तो बोले—"इकन्नी हो तो देना—पान खाएँगे, आज तो पान खाने को भी जेब में पैसा नहीं है।" 'फ़्री' इतने थे कि एक दिन बरेली आकर मुझसे कहा—तुम्हारे 'श्रवणकुमार' का आख़िरी सीन अपने एक ड्रामे में ले रहा हूँ। भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल का त्रिअङ्की नाटक 'हिन्दुस्तान' स्टेज करा रहा हूँ। पूरा नाटक

श्रीआग़ा हश्र ने प्रायः नहीं लिखा। ख़ुद ख़ास-ख़ास सीन लिखते थे। शेष शिष्यों से लिखवाते थे पर उनके लिखे हुए वे ख़ास-ख़ास सीन मास्टर सीन ही होते थे—लाजवाब होते थे – क़लम की दृष्टि से भो—और स्टेज की नज़र से भी।

मेरे 'श्रवणकुमार' की कटु आलोचना निकली—आगरे के एक साप्ताहिक-पत्र में। श्रीआग़ा हश्र ने कहीं देखली। तो मेरे पास आकर कहा—"क्यों छपवाते हो अपने नाटक? नाटक खेलने की चीज़ है—पढ़ने की चीज़ नहीं। अभी हिन्दुस्तान में हिन्दी इतनी नहीं उठी है – जितनी पश्चिम में अंग्रेज़ी। यहाँ तो थिएटरों में अभी अर्से तक 'खिचड़ी' (गिरी-पड़ी) भाषा ही चलेगी। हिन्दी के ऊँचे लोग चाहते हैं—ऐसी उच्च कोटि की भाषा—जिसे स्टेज पर रक्खा जाय तो उन हिन्दी के दिग्गजों के—घरवाले तक – नाटक देखने आवें—तो न समझ सकें। कम्पनी का पहली ही रात 'टाट' उलट जाय। फिर इन आलोचकों को न स्टेज का ज्ञान है—न वाक़आत जानते हैं। 'अन्धाधुन्ध' लिख मारते हैं।" यह कहकर उन्होंने अपने सन्दूक़ में से नवम्बर सन् २८ का प्रयाग का 'भारतेन्दु' (मासिक पत्र) मुझे दिखाया जिसके सम्पादक–श्रीज्योतिःप्रसाद मिश्र, 'निर्मल', थे। उसके पेज ५५ पर नाटकों की चर्चा के सिलसिले में यह छपा था—

"... ... इसके बाद बाबू नारायणप्रसाद 'बेताब' ने वीर अभिमन्यु, महाभारत, परिवर्तन आदि कई बड़े नाटक लिखे जिनका जनता ने बड़ा आदर किया।" ... ...

मैं जब उसे पढ़ रहा था—तो श्रीआग़ा हश्र क़हक़हे मारमार कर हँस रहे थे। यह बात सन् १९२८ के दिसम्बर की है—जब वे अपने किसी कार्य से बरेली आए थे। इस बात से पाठक यह भी समझें कि श्रीआग़ा हश्र अध्ययन भी .खूब करते थे। सम्वाद या साहित्य वाले पत्र पढ़ना उनका नित्य का व्यसन था।

कलकत्ते में तब मुझे आरा (बिहार) के श्री प० ईश्वरीप्रसाद शर्मा भी मिले, मिलते ही रहे। वे तब वहाँ से निकलनेवाले 'हिन्दू पञ्च' के सम्पादक थे। जितने अच्छे सम्पादक—उतने ही अच्छे लेखक और फिर व्यक्तित्व में तो—एक वाक्य में लिखूं—"सच्चे अर्थों में मानव थे।" आज उनकी भी याद मेरे कलेजे की हूक है।

कलकत्ते के अपने स्वागत का—अपनी ही लेखनी से—पूरा बखान करने में 'आत्म-प्रशंसा' का दोष आता है। इसलिए केवल दो पत्रों में प्रकाशित समाचार ही यहाँ उद्धृत कर देता हूँ—

दैनिक 'विश्वमित्र' - ३ जनवरी सन् १९२७ ईस्वी में—'सम्पादकीय समाचार' छपा—

* कविरत्नजी का अभिनन्दन *

गत ता० २ जनवरी १९२७ की रात को ८॥ बजे स्थानीय हिन्दी नाट्य परिषद् की ओर से मुकीमनिवास में बरेली-निवासी 'पण्डित राधेश्यामजी कविरत्न' महोदय को अभिनन्दनपत्र प्रदान किया गया। उपस्थिति अच्छी थी। सभापति का आसन 'मतवाला' सम्पादक श्रीयुक्त बा० नवजादिकलालजी श्रीवास्तव महोदय ने सुशोभित किया था। आरम्भ में पण्डित विजयकृष्ण शुक्ल ने सुललित स्वर में मङ्गल-गान गाया। अनन्तर 'हिन्दू पंच'-सम्पादक पण्डित ईश्वरी प्रसादजी शर्मा ने तथा 'नारायण' सम्पादक पं० नरोत्तम व्यासजी ने श्रीकविरत्नजी का परिचय कराते हुए आपकी नाट्यकला और रामायण-प्रवचन द्वारा हिन्दी प्रचार की भूरि-भूरि प्रशंसा की। फिर परिषद् के अध्यक्ष माधवजी शुक्ल ने शीशे में जड़ा हुआ स्वर्णांकित अभिनन्दनपत्र पढ़कर पण्डितजी को भेंट किया। उत्तर में धन्यवाद देते हुए पण्डितजी ने हिन्दी भाषा और पारसी नाटक मंच के सम्बन्ध में बड़े ही सारगर्भित शब्दों में विवेचना की और इस अवसर पर एक अखिल भारतवर्षीय हिन्दी नाट्यमंच की आवश्यकता बतलाते हुए हिन्दी नाट्यपरिषद् को अग्रसर होने के लिए उत्साहित किया। पण्डितजी का व्याख्यान संक्षिप्त होते हुए भी बड़ा मार्मिक था।

अन्त में जनता के बहुत आग्रह करने पर पण्डित राधेश्यामजी ने रामायण में से केवट और रामचन्द्रजी के सम्वाद को दो ही चार लाइनों में कहकर सारी सभा को मुग्ध कर दिया। अनन्तर सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित की गई।

———

बजरङ्ग परिषद् ।

गत ता० ४ जनवरी १९२७ को रात्रि के ८॥ बजे स्थानीय बजरङ्ग परिषद् की ओर से परिषद्-भवन में बरेली निवासी प० राधेश्याम जी शर्म्मा कविरत्न महोदय को अभिनन्दनपत्र प्रदान किया गया। उपस्थित सज्जनों में निम्नलिखित सज्जनों का नाम विशेष उल्लेखनीय है—प०ईश्वरी प्रसाद जी शर्मा, प० सूयकान्त जी त्रिपाठी, नरोत्तम जी व्यास, प०गांगेय नरोत्तम जी शास्त्री, प० पुरुषोत्तमराव जी, प० माधव जी शुक्ल, सर्दार सतनाम सिंहजी, बा० मूलराज जी कपूर आदि। सभापति का आसन प० ईश्वरी प्रसाद जी शर्म्मा ने ग्रहण किया। सर्वप्रथम प० सूर्यकान्त जी त्रिपाठी 'निराला' ने अपने सुमधुर स्वरों से मंगलाचरण किया। प० नरोत्तम जी व्यास ने पण्डित जी का परिचय कराते हुए आप की नाट्यकला तथा रामायण कथा द्वारा हिन्दी साहित्य की सेवाओं की प्रशंसा की। फिर परिषद् के उपाध्यक्ष प० गांगेय नरोत्तम जी शास्त्री ने शीशे में जड़ा हुआ स्वर्णाङ्कित अभिनन्दन पत्र पढ़कर पण्डितजी को भेंट किया। उत्तर में धन्यवाद देते हुए पण्डित जी ने नाट्यकला सम्बन्धी अनेक बातों पर सारगर्भित शब्दों में विवेचना की और उपस्थित सज्जनों के विशेष आग्रह करने पर अपनी रामायण कथा के शिव और पार्वती सम्वाद को सुनाकर उपस्थित जनता को मुग्ध कर दिया। अन्त में प० पुरुषोत्तमराव जी ने सभापति तथा आगत सज्जनों को परिषद् की ओर से धन्यवाद दिया और सभा रात्रि के ११ बजे विसर्जित की गई।

('भारत-मित्र'—८-१-२७) रघुनाथ सिंह...संयुक्त मन्त्री

कलकत्ते की बातें मैंने यहाँ इसलिए बढ़ाई हैं, कि—'न्यू अलेफ्रड' की सर्विस छोड़कर—कलकत्ते के 'मैडन थिएटर' से भी मेरा नाटक-सिनेमा सम्बन्ध कुछ रहा है। यह बात सन् १९३१ के अक्टूबर की है। तब मेरा स्वास्थ्य ठीक हो चला था। और मैंने एक 'पूरी रामायण की कथा' कलकत्ते के बड़े बाज़ार के पास—पुराने डाकखाने की बड़ी बिल्डिंग में कही थी।

उस कथा में अपार भीड़ होती थी—'मैडन थिएटर' के भी कुछ ऐक्टर आया करते थे। दादाभाई सरकारी भी उस कथा से प्रभावित होकर मुझसे मिले थे। 'हिन्दू पञ्च' के उन दिनों के सम्पादक पण्डित विश्वनाथसिंह ने पत्र के मुख पृष्ठ पर मेरा एक बड़ा चित्र—अपनी टिप्पणी सहित निकाला था। 'हिन्दू पञ्च' का कलेवर साइज़ वही था—जो आज के साप्ताहिक हिन्दुस्तान का है। प्रसिद्ध श्री सत्यव्रतजी विद्यालङ्कार भी वहाँ कथा में आया करते थे जो बाद में दिल्ली के 'हिन्दुस्तान' के सम्पादक हुए। आप से वहाँ मेरा इतना प्रेम सम्बन्ध बढ़ा कि—आजतक है।

यह ज़माना—सवाकचित्र (टाकीज़) की शुरूआत का था। पहली बोलती तस्वीर बम्बई से निकली थी—"आलमआरा"। इस तस्वीर में 'एलीज़र' (वीर अभिमन्यु के 'अर्जुन') का भी पार्ट था। दूसरी बोलती तस्वीर थी

मैडन का 'शीरीं फरहाद'—इसमें 'कज्जन' (ऐक्ट्रेस) को 'शीरीं' बनाकर और 'निसार' (वीर अभिमन्यु की उत्तरा) को 'फरहाद' बनाकर—श्रीआग़ाहश्र ने ऐसी अच्छी ग़ज़लें गवाई थीं—कि कलकत्ता, बम्बई सभी जगह धूम मच गई। अब बम्बई और कलकत्ते में तेज़ी से अगली तस्वीरें बनाने की 'होड़' सी पड़ी। कलकत्ते में 'श्रीयुत भवनानी' ने 'शकुन्तला' बनानी शुरू की। 'मैडेन थिएटर्स' के मैनेजिंग डायरेक्टर—'जहाँगीर जी शेठ' (J. J. Madan) में यह व्यवसायी कूटनीति पैदा हुई कि उससे पहले हम अपनी शकुन्तला निकाल दें। शकुन्तला—दुष्यन्त की जोड़ी (कज्जन–निसार) को तो वहाँ—'शीरींफ़रहाद' के कारण—प्रसिद्धि प्राप्त ही थी, सीनरी—पोशाक—'थिएटर' की थी ही, 'टालीगंज' का 'स्टुडियो' तैयार हो ही चुका था—फिर क्यों न वे अपनी योजना पूरी करें ?—'दादाभाई सरकारी' से मेरी मुलाक़ात काफ़ी थी। वे ही बीच में पड़े। निश्चित हुआ कि संवाद और गीत आदि मुझसे लिखाकर—जहाँगीरजी 'श्रीभवनानी' से पहले, अपनी 'शकुन्तला' निकालें। मैंने स्वीकार तो कर लिया—पर जब लिखना शुरू किया—तो—चक्कर में पड़ गया। जहाँगीरजी ने यह प्रोग्राम बनाया—कि जितना रोज लिखा जाय उसका 'शूटिंग' भी उसी रोज़ उतना हो जाय और गाने ज्यादा से ज्यादा हों। क्योंकि 'शीरीं फरहाद' में गाने ही गाने तो थे। उसकी सफलता ने उन्हें—इस (शकुन्तला) में भी—

'गाने' भरने की बड़ी हठ सी पैदा करा दी थी। मेरा वह महीना—बड़े परिश्रम का गुज़रा। यह अच्छा था कि 'कथा' ख़त्म हो चुकी थीं। नहीं तो—'बीमार' पड़ जाता। नित्य रात को लिखता था। सुबह ही टालीगंज—(अपने रहने की जगह से ८-१० मील) जाता था और 'शूटिंग' के समय हाज़िर रहता था। मेरे दोपहर के पराठे—घर से बनाकर—मेरा नौकर—'छदम्मीलाल' वहीं टालीगंज ले जाता था। पार्ट—ऐक्टरों को याद थोड़े ही कराए जाते थे—खड़िया से—एक बड़े से काले बोर्ड पर मुझे ही (कभी उर्दू कभी हिंदी में) लिखने पड़ते थे—जिन्हें, दूर से पढ़-कर—ऐक्टर लोग बोला करते थे। 'गानों' के बोल शाम के ५ बजे (शूटिंग ख़त्म करके) रास्ता चलते हुए मैं बनाता था। यह सही है कि 'जहाँगीर जी शेठ' अपनी निजी मोटर मेरे लिए देते थे। मेरी तफ़रीह को—कलकत्ते भर के अपने थिएटरों—सिनेमाघरों के (जिनकी तादाद दर्जनों थी) स्पेशल क्लास के स्थायी 'पास' मुझे दे रक्खे थे। पर—मेरे पास उस 'तफ़रीह' के लिए अवकाश ही कहाँ था। अक्सर मैं घर से टालीगंज और फिर शाम को टालीगंज से घर—(हरिसन रोड) 'ट्राम' ही में आता था—ताकि राह में गीतों को लिख डालूँ—रात का समय तो ड्रामा लिखने का था—जैसा कि ऊपर ज़िक्र कर चुका हूँ।

एक शाम को 'धर्मतल्ला' के चौराहे पर—ट्राम से मैं उतर पड़ा—वहाँ 'लान' (घास का मैदान) भी है। सोचा था वहीं बैठकर एक 'गीत' पूरा करूँगा। पर गीत के बोल तो ट्राम ही में बनने लगे थे। ट्राम से उतरते ही—सड़क पर ही—जेब में से पेंसिल कागज़ निकालकर—खड़े खड़े—उस गीत की एक लाइन लिखने लगा। उसी क्षण न लिखता—तो वह दिमाग़ से ग़ायब हो सकती थी। गानों की लाइनें लिखना—सिर पर एक 'भूत' सा सवार कर लेना है, जो एक एक क्षण बेचैन ही रखता है—जबतक गाना पूरा न हो जाय। उसी समय टालीगंज से—मोटर में—'कज्जन' के साथ उसकी माँ आईं। मुझे वहाँ खड़ा देखकर—हैरान होगईं, मोटर रोक दी। कहा—"घर जाएँगे? आइए—मोटर पर, अभी—पहुँच जाएँगे।" मैंने कहा—"नहीं! अभी घर नहीं जाऊँगा, आप जाइये।" 'कज्जन' ने मेरे हाथ में काग़ज़—पेंसिल देखकर कहा—"यहाँ खड़े खड़े कर क्या रहे हैं?" मैंने कहा—"तुम्हारे ही लिए गीत लिख रहा हूँ।" उसने फिर कहा—"यहाँ? चौराहे पर? इतनी भीड़ में?" मैं बोला—"इसका जवाब—समय का अभाव है—और लगन है।" इसके बाद उनकी मोटर चली गई। ऐसी छोटी छोटी बातें—इसलिए लिख रहा हूँ—कि आराम के साथ—रुपया पैदा करने के आदी - मेरे प्यारे युवकगण—मेरी हालत का अन्दाज़ा लगाएँ।

'सिनेमा' लाइन के 'नट-नटी'– जो अपनी 'शान' ही में सब समय 'अकड़े' रहते हैं, हमारी हालत का अन्दाजा नहीं लगा सकते। उसी प्रकार—जैसे कि गर्मी के दिनों में—अपने ठण्डे कमरे में गर्म खाना मँगाकर खानेवाला—पैसेवाला—मालिक उस ग़रीब रसोइए की बात नहीं समझ सकता—जो उस तप्त ग्रीष्म में चूल्हे की आग के आगे बैठा हुआ मालिक के लिए रोटियाँ बना रहा है, और ला रहा है।

यह तो अच्छा था कि 'व्रजलाल' नाम का एक मारवाड़ी हार्मोनियम मास्टर मुझे मिल गया था—जो मेरे पास बैठ-कर—बड़ी जल्दी तर्जें बनवा लेता था—बोलों को भी समझ लेता था। फिर 'कज्जन'—'निसार'—के घरों पर जा जाकर उनकी मिजाजदानी कर करके—उन्हें 'तर्जें' बिठाता था। बोल तो (गानों के भी) 'बोर्ड' ही पर लिखने पड़ते थे।

जहाँगीर शेठ ने दो—तीन दिन मेरे साथ काम करके एक और भार मेरे पर डाल दिया—वे बड़े कामकाजी थे। समय का बहुत ही अभाव था। ज़रा देर को स्टूडियो में आकर चल देते थे—मुझसे यह कहकर—"मुझे एक बड़ा काम है, आप यह सीन 'शूट' करादें।" दादाभाई सरकारी रात को थिएटर में पार्ट करते थे—दिन में थिएटर की रिहर्सल में रहते थे। उन्हें इस जगह आने की कहां फ़ुर्सत?—मुझे—जिसने जिन्दगी में पहली बार ऐसी मशीन का मुँह देखा—जो गाने उगलती थी—भला क्या अनुभव था उसका? केमरा-

मैन 'राजहंस'—और साउण्ड इंजीनियर 'मारकोनी' मेरे बाज़ू या सहारे थे। या वह एक 'गोरी मेम' थी—जिसके हाथ में 'सिनारियो' की वह किताब रहती थी—जिसे मेरे साथ बैठकर—जहाँगीर जी लिखवा देते थे इतना भाग 'लांग शाट' में, इतना 'क्लोज-अप' में आदि २। निःसन्देह, वह मेम, वह विदेशी रमणी, बड़ी सभ्य थी, चतुर थी, ड्यूटी-फ़ुल थी। मुझे कभी कभी खाँसी उठती थी, तो तुरन्त जेब से एक टिकिया दवा की निकालकर—देती थी, जिससे खाँसी रुक जाती थी। वास्तव में तो—ख़ाँसी 'न्यू अल्फ्रेड' का 'प्रसाद—रूप' मुझे सदा ही के लिए प्राप्त हुई है।

'न्यू थिएटर्स' भी तब शुरू हो—चुका था। 'मेडेन के स्टूडियो' से ज़रा आगे ही उनका स्टूडियो था। वहाँ से ऐक्टर जब छूटते थे—तो कोई कोई हमारे स्टूडियो में भी आते थे;—मुझसे भी मिलने आ जाते थे। ख़ासकर—'सहगल' और 'जद्दनबाई' (नरगिस की माँ)।

'जद्दनबाई' तो संगीत की इतनी अधिक प्रेमिनी थी कि उन्हीं दिनों एक रात को—कलकत्ता—रेडियो में—मेरी रामायण के 'केवट सम्वाद' की कथा का—मेरे ही मुख से—ब्राडकास्ट का जब प्रोग्राम था तो वह वहीं—'रेडियो स्टूडियो' में पहुँच गई। बाद में उसने मुझसे कहा—"रेडियो में आवाज तो—घर पर भी—सुन सकती थी—पर कथा कहते समय आप कितने तल्लीन होते हैं—उसका अवलोकन

करना था; गायक का यह भी बड़ा आवश्यक अंग है।" इसी तरह कालान्तर में बम्बई में—गोल्डमोहर कम्पनी में—उसके मैनेजर ने—मुझसे मेरा एक गाना—'निर्बल के प्राण पुकार रहे' गवाकर शूट किया—तो उसे सुनने भी जद्दनबाई (नरगिस सहित) आई थीं। यद्यपि वह गाना व्यर्थ गया। वह पिक्चर ही नहीं निकली। वह कम्पनी ही नहीं चली।

जैसे तैसे 'शकुन्तला फ़िल्म' तैयार हो गया। ख़र्चा तो कोई ख़ास हुआ ही नहीं था; ऐक्टर और ड्रेस—सीनरी आदि सब सामान थिएटर का। बस 'फ़िल्म' का—या और कुछ इधर उधर का—ख़र्च हुआ होगा। लेकिन बिका १ और २ लाख के बीच की—किसी 'रक़म' में—डिस्ट्रीब्यूटर के हाथ। पहली रात को बड़ा 'जोश' था। कटु आलोचकों के लिए तो—गानों की बहुतायत उसमें थी ही। पर गायनप्रेमियों को तो 'रस' आ ही गया, शकुन्तला की दो सहेलियों का गाया हुआ एक गाना तो 'भाई नरोत्तम व्यास' को इतना भाया था कि वे उसे सुनने कितनी ही बार गए। मुझे भी लेगए। वह गाना यह था—

"आए सखीरी फागुन के दिन, फूली है कैसी ये बगिया आज।
खेत में देखो तो कैसी खड़ी है-सजधज के सरसों सुंदरिया आज
मानो-प्रकृति ने-प्रभु को लुभाने, ओढ़ी है पीली चुनरिया आज"

गानों के बोल लिखने में मैंने तबियत तो लगाई ही थी। जैसे—अंगूठी पानी में गिर जाने के बाद—शकुन्तला का एक गीत था—

"हाय गँवादी अपनी दौलत—अपनी ही नादानी में,
इधर नेत्रों में पानी है—उधर अंगूठी पानी में।
पानी पड़ा अक़्ल पर ऐसा—.खुद ही पानी पानी हूँ,
पानी पानी न हो आबरू—इस ग़म में दीवानी हूँ,
दिखलाऊँगी उनको जाकर-अब क्या चीज़ निशानी में ?
इधर नेत्रों में पानी है—उधर अंगूठी पानी में"

और भी—

शकुन्तला—बताए कोई—कि किसलिए हैं रसीली मनहर हिरन की आँखें ?

सखियाँ—ये इसलिए हैं—कि तुमने भी तो—हैं पाई दिलबर हिरन की आँखें।

'हिन्दू पंच' में 'शकुन्तला' की आलोचना इस प्रकार निकली—

कथावाचक जी का जौहर

"इस सप्ताह में मैडन थियेटर लि० द्वारा परिचालित कर्नवालिस थियेटर के रंग मंच पर भारत के यशस्वी कवि और कुशल नाटक-कार प० राधेश्याम जी कथावाचक द्वारा प्रस्तुत किया हुआ शकुन्तला नामक नाटक का टाकी फ़िल्म के रूप में प्रदशन हो रहा है। थियेटर हाल दर्शकों से खचाखच भरा रहता है। दर्शकों की अधिकता को हम फ़िल्म की सफलता का प्रबल प्रमाण समझ सकते हैं। पर हमारे देश में अभी ऐसी अवस्था नहीं पहुँची है, जिससे केवल जनता के आकर्षण को ही किसी कला की सफलता का प्रमाण माना जाय। हमारी

जनता कभी कभी थर्ड क्लास चीजों पर भी आकर्षित हो जाती है। इस कारण कथावाचक जी की टाकी पर हम कला की दृष्टि से विचार करना चाहते हैं।

नाटकीय क्षेत्र में पं० राधेश्याम जी का अनुभव इतना विस्तृत है कि वे अपनी कृतियों में चुम्बक का आकर्षण तथा जादू का असर डाल देते हैं। उनकी वर्तमान कृति में भी हमें इस जौहर का परिचय मिलता है। उन्होंने प्लाट का क्रम बड़ी योग्यता से निवाहा है। कथा में प्रेम का प्राधान्य होते हुए भी उन्होंने अश्लीलता को कहीं फटकने नहीं दिया है। विश्वामित्र जी की तपस्या भंग करने के लिए इन्द्र महाराज की ओर से अप्सरा मेनका जाती है, वहाँ कामदेव की सहायता से वह प्रेम लीला करती है, महर्षि की तपस्या भङ्ग होती है, पर कहीं भी अश्लीलता नहीं आने पाती। अन्य कई स्थानों पर भी कथावाचक जी ने अश्लीलता के दोष को कौशलपूर्वक बचाया है।

फ़िल्म के गाने बहुत ही मनमोहक तथा मधुर हैं। कहीं कहीं तो मनोहरता की पराकाष्ठा कर दी गई है। एक नमूना देखिए—शकुन्तला के विरह में दुष्यन्त कहते हैं:—

नीर बिन मेघ जैसे, गंध बिन फूल जैसे;
कण्ठ बिन गान जैसे, स्वर बिन तन्त है,

ज्ञान बिन गुरु जैसे; न्याय बिन नृप जैसे
भाषा बिन कवि जैसे, सिद्धि बिन सन्त है।
दान बिन धनी जैसे, सत्य बिन मित्र जैसे,
शील बिन नारि जैसे, नेह बिन कन्त है।
जल बिन मीन जैसे, मणि बिन सर्प जैसे,
तैसे आज दीन हीन व्याकुल दुष्यन्त है।

टाकी के पात्रों ने भी अपना काम बड़ी योग्यता के साथ अदा किया है। यह फ़िल्म निश्चय ही मैडन थिएटर लि० के सभी फ़िल्मों से सुन्दर तथा आकर्षक है।

इसकी सफलता के लिए मैडन थियेटर के संचालक महोदय तथा कथावाचकजी निःसन्देह हमारी बधाई के पात्र हैं।

हम अपने कर्त्तव्य से भ्रष्ट होंगे, यदि फ़िल्म के गुणों के साथ साथ इसके दोष को भी जनता के सामने नहीं रक्खें। गुण और दोष प्रत्येक वस्तु में होते हैं। यह टाकी भी इस नियम का अपवाद न हो सकी। इसमें प्रधानतः तीन दोष हैं। पहला गानोंकी अधिकता, दूसरा अधिक देर तक भूतों का भयङ्कर दृश्य दिखलाया जाना, तथा तीसरा बीच बीच में 'दाल—भात में मूसरचन्द' की तरह उस्तादों के गानों का समावेश। यदि इस टाकी में ये दोष नहीं रहते, तो निश्चय ही यह भारत के टाकियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान ग्रहण करता। यदि अब भी यह दोष दूरकर दिये जाँय, तो फिल्म संसार में यह सर्वोच्च स्थान ग्रहण कर सकेगा इसमें सन्देह नहीं।

अन्त में इस मनोहर फ़िल्म के लिए हम कथावाचकजी को एक बार फिर हृदय से बधाई देते हैं। आशा है कि भविष्य में अपनी अन्य नवीन कृतियों द्वारा कथावाचकजी कलकत्ते के रंगमच में जान पैदाकर देंगे। बहुत ही अच्छा होता यदि करेन्थियन थिएटर के रंगमच से वर्तमान शकुन्तला का अभिनय नाटक के रूप में भी किया जाता।"

तब 'हिन्दू पंच' के सम्पादक थे प० श्रीविश्वनाथ सिंह। बड़े ही हिन्दी प्रेमी, देशभक्त, ललितकला के प्रेमी। 'हिन्दूपंच' के बाद उन्होंने कलकत्ते ही से एक दैनिक 'राष्ट्रबन्धु' निकाला था। मालूम नहीं—आजकल श्रीविश्वनाथसिंह कहाँ हैं?

मैंने अपनी धर्मपत्नी को भी तब 'कलकत्ते' बुला लिया था। अपने पुराने स्वभाव के अनुसार— इस परिश्रम के बाद—मकर—संक्रान्ति नहाने 'गंगासागर' जाने के विचार से ऐसा किया था।

अचानक जहाँगीर शेठ ने कहा—"अब 'शकुन्तला' ही 'नाटक' के रूप में—अगले शनिवार को 'करेन्थियन थिएटर' में खिलेगा, अभी ९ दिन हैं। लिख डालिए काट-कूट कर—स्टेज के लिए। ऐक्टरों का रिहर्सल जितना भी चला सकें आप ही चलालें। आगे तो फिर 'प्राम्पृ' पर खेल चलेगा।" मैं उनकी इस जल्दबाज़ी से अवाक् सा रह गया। उन्होंने फिर कहा—दूसरा कोई नया नाटक भी तो नहीं है।

दिसम्बर जनवरी के महीने यहाँ के 'सीज़न' के हैं।" शेठ का हुक्म। फिर आया कमज़ोर कंधों पर यह भार।

'करेन्थियन थिएटर' में रमणियों के मध्य बैठकर—उच्चारण सिखाते समय—मुझे पुरुष होकर भी—रमणी जैसी लज्जा होती थी—आत्मग्लानि भी होती थी। करता यह था कि अपनी नज़र रखता था किताब पर—और 'उच्चारण' सिखाता था उन सबों को। मानो 'किताब' ही को सिखा सा रहा होऊँ। एक दो लड़कियों ने जहाँगीर शेठ से जाकर यह कहा भी—"ऐसा डायरेक्टर नहीं देखा। नज़र किताब पर रहती है—और ज़ुबान से सिखाता रहता है हम सब को।" जहाँगीर शेठ पर इस बात का बहुत प्रभाव पड़ा। केशवलाल मानकचन्द नायक—उनका बहुत समीपवर्ती ऐक्टर था—उसने उनपर पड़ने वाले प्रभाव की बात मुझसे कही। तब मैंने स्पष्ट अपनी पोज़ीशन उसे बताई-कहा-"भैया, ले आता है मेरा शौक मुझे नाटकघर में, वर्ना अस्ल में तो मैं 'कथावाचक' हूँ। 'कथा' की 'जनता' के सामने अपनी पोज़ीशन रखने के लिए-मुझे बाहर या भीतर अपने चरित्र की 'शुद्धता' पूर्ण रूपेण रखनी है। वह 'कथावाचक' कभी भारत का प्रिय और प्रसिद्ध कथावाचक नहीं बन सकता जो 'चरित्र-भ्रष्ट' हो।" केशव मान गया। मानने की बात भी थी। 'काजल की कोठरी' में रहकर भी—मुझे इस 'गन्दगी' से किसी ने

बचाया है तो इसी भावना ने—या इस भावना के भीतर 'उर प्रेरक रघुवंश विभूषण' ने।

शनिवार ता० ७-१-१९३२ को 'शकुन्तला नाटक' भी खिल ही गया। नाटक की कमज़ोरी दूर करने के लिए—मिस मुख्त्यार (लाहौर की एक गायिका) का सङ्गीत भी रक्खा था। मास्टर मोहन ने भी अपनी एक पुरानी कामिक रख दी थी। 'नवाब' (मशहूर सिनेमा ऐक्टर) जो इस 'शकुन्तला' (फ़िल्म और नाटक) में 'विश्वामित्र' बना था—अपने किसी रईस दोस्त के यहाँ से पालतू 'चीते का बच्चा' ले आया था—जिसकी कुश्ती (दुष्यन्त पुत्र के साथ) दिखाई गई। फिर भी मुख्य नाटक तो 'फ़ेल' ही था। यही मेरा एक नाटक 'फ़ेल' हुआ है। उसका कारण परिस्थिति और समयाभाव ही था—जैसा कि ऊपर लिख चुका हूँ। यही कारण है कि अपनी नाटकावली के इस नाटक—'शकुन्तला' को अबतक 'राधेश्याम प्रेस' से प्रकाशित नहीं किया है। अथ से इति तक फिर से क़लम घिसूँ, तभी प्रकाशित कर सकता हूँ। जबतक अपना ही जी न भरे—प्रकाशन कैसा? फिर समालोचकों का भी डर दिल में बैठा हुआ है।

कलकत्ते के हिन्दी पत्रों ने फिर भी इस 'शकुन्तला नाटक' की कटु आलोचना नहीं की। एक उर्दू के मुसल्मानी अख़बार 'चोंच' ने ज़रूर 'शकुन्तला' के ख़िलाफ़ अपनी चोंच मारी।

पर वह मेरी विरोधी पार्टी का अख़बार था। मुसल्मान पार्टी का जिसका कि बदक़िस्मती से मैं सदा शिकार रहा हूँ।

भाई नरोत्तम व्यास भी तो उन दिनों अपना एक साप्ताहिक पत्र 'रङ्ग-मञ्च' निकाला करते थे, जिसका प्रभाव कलकत्ते भर पर था—और यह तो मानी हुई बात थी कि व्यासजी की मुझ पर कृपा या प्रीति होने के कारण—मेरी सभी कृतियाँ उन्हें प्यारी थीं—इस दृष्टि से उनकी लेखनी मेरे सम्बन्ध में तो 'रङ्ग-मञ्च' के कालमों में मेरी प्रशंसा ही लिखा करती थी।

श्रीनरोत्तम व्यास को उसके बाद स्वयं इस लाइन का शौक़ बढ़ा है—और उन्होंने श्रीदेवकी बोस के साथ रहकर सीता, राजरानी-मीरा आदि कई हिन्दी फ़िल्मों का लेखन किया है। उसके बाद पूना में श्रीशान्ताराम के साथ रहकर भी पिक्चर्स का लेखन करके नाम और धन पैदा किया है। कलाकार बनने के बाद अब व्यासजी 'सफ़ल-फ़िल्म-व्यवसायी' बनने की 'धुन' में हैं—अपना लिखा—अपने डायरेक्शन का—अपनी मिल्कियत का 'फ़िल्म' बम्बई से निकालना चाहते हैं। कुछ निकाला भी है, ईश्वर उन्हें सफल मनोरथ करे। मैं सदा से इस विचार का हूँ कि— 'कला' और 'व्यवसाय' दो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं। इनके लिए दो अलग-अलग व्यक्ति चाहिएँ। यदि एक ही

व्यक्ति इन दोनों लाइनों में सफल होता है—तो उस पर ईश्वर की महान् कृपा ही समझनी चाहिए। मैंने तो उसके बाद—कुछ समय को कलकत्ता छोड़ ही दिया। 'गङ्गासागर' के पश्चात्—नदिया-नवद्वीप (श्रीचैतन्य महाप्रभु की लीलाभूमि) जाकर वहाँ का आनन्द-लाभ किया।

कितने ही समय से मेरे मस्तिष्क में—यह विचार लहरें मारा करता था कि अब समय आगया है—हिन्दी नाटक का स्तर ऊँचा उठाना ही चाहिए। 'मराठी' नाटक देखे थे, 'बँगला' भी इधर कलकत्ते में देखे। दोनों भाषाओं के नाटकों में—किसी एक विषय को लेकर—खूब बहसें कराई जाती थीं; लम्बे लम्बे भाषण भी रक्खे जाते थे, उन्हीं के ढँग का नाटक 'हिन्दी' में भी क्यों न लिखा जाय? इन्हीं विचारों से ओतप्रोत मैं एक सवेरे नदिया (नवद्वीप) में—गंगातट—बैठकर—अपने एक पुराने लिखे हुए 'कथानक'—'महर्षि वाल्मीकि' को—नए सिरे से तरतीब देकर—लिखने लगा। प्रारम्भ में सूत्रधार की जगह स्वर्ग का एक दृश्य—रखना पसन्द किया, जहाँ शारद नारद से कहती है कि छन्द, अलंकार, भाव, कविता, कल्पना और रागिनी सहित—शीघ्र ही मुझे 'मर्त्यलोक' जाना है और 'वाल्मीकि' के हृदय को अपना वासस्थान बनाना है। यह सम्पूर्ण दृश्य 'पद्य' ही में लिखना पसन्द किया। गद्य बिल्कुल नहीं।

इससे अगला दृश्य (नाटक का प्रारम्भिक दृश्य खेत से शुरू किया—जहाँ क्षेत्रपाल (वाल्मीकि) हल चला रहा है—और बादलों को देख—देखकर—उसका हृदय इस प्रकार की हिलोरें—लेता है—जैसी कि 'कवि-हृदय' लिया करता है। प्रारम्भ ही में—नायक को—इस रूप में—इसलिए पेश किया है—कि जनता समझ ले यही व्यक्तित्व भविष्य में 'महाकवि' होकर अपना 'अमर काव्य' रामायण लिखेगा इस दृश्य में कहीं क़ाफ़िया नहीं रक्खा—शेरें नहीं रक्खीं—सारा दृश्य भाषण ही भाषणों में पूरा किया गया। इरादा कर लिया कि सम्पूर्ण नाटक—इसी ढँग से (वार्तालाप) में क़ाफ़िए बाज़ी और शेरबाज़ी न रखकर लिखूँगा।

कलकत्ते पहुँचकर—भाई 'नरोत्तम व्यास' को जब यह 'वाल्मीकि' सुनाया तो बड़े प्रसन्न हुए—वे तो यह चाहते ही थे- कि कलकत्ता न छूटे। उनसे मेरा ऐसा ही प्रेम सम्बन्ध बँध चुका था।

'व्यासजी' के बराबर ही—एक कमरा मैंने किराए पर लिया- और वहीं बैठकर पूरा 'वाल्मीकि' लिखने—का अनुष्ठान शुरू कर दिया। धर्मपत्नी को बरेली भेज दिया। पूरे दो अङ्क—उसी शैली पर (बग़ैर काफ़िए और शेरों के) लिख डाले। तीसरे अङ्क में 'वाल्मीकि' के मुख से जैसे ही कविता का प्रादुर्भाव होता है:—

"हे व्याध, मिटाकर यह जोड़ा, क्यों अपयश मोल लिया तूने।
तू नहीं प्रतिष्ठा पाएगा, वह भीषण पाप किया तूने॥"

यहाँ से अन्त तक उनके मुख से 'पद्य' ही में भाषण कराने का ढँग अख़्तियार किया। 'शान्ता' और 'वीरभद्र' के दो काल्पनिक चरित्र—आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत—पालन करने वाले भी लिखे। कुछ की राय में वे 'अस्वाभाविक' हो सकते हैं, तो कुछ की राय में 'स्वाभाविक' भी हैं। जब भारत के प्राचीन इतिहास में 'आजन्म ब्रह्मचर्य-व्रत' पालन करने के उदाहरण मिलते हैं—तो क्यों न स्टेज पर भी ऐसे 'कैरेक्टर्स' लाए जायँ? वानप्रस्थाश्रम में—स्त्री-पुरुष एक ही चटाई पर सोकर—यदि काम-चेतना (सैक्स) पर संयम रख सकते हैं—तो लेखक क्यों न आत्मिक—विवाहवाले चरित्र लिखकर पेश करे? स्टेज पर 'मौलिकता' लाए?

इस ड्रामे के पार्ट जब बँटे—तो ऐक्टरों में एक अजीब 'हलचल' सी पैदा हो गई। वे कहाँ अभ्यासी थे—बड़ी-बड़ी स्पीचें बोलने के? न इतनी हिन्दी के आदी थे। 'अब्दुलरहमान काबुली' (न्यू अलबर्ट और न्यू अल्फ्रेड का मेरा परिचित ऐक्टर) तब वहाँ (मैडन में) अपनी कुछ पोज़ीशन रखता था। कई पार्टियाँ उस कम्पनी में बनी हुई थीं—उसमें से एक पार्टी का वह भी लीडर था। उसने 'अमरसिंह राठौर' आदि अपने कई ड्रामे अपने ही डाइरेक्शन

में निकाले थे। उसी (अब्दुलरहमान काबुली) को मैंने 'बाल्मीकि' का पार्ट दिया। उसी पर डाइरेक्शन का भी बोझ डाला। उसने ड्रामे में कहीं-कहीं हेर-फेर करा ही दिया— इस अभिप्राय से कि कुछ तो पुराना रङ्ग भी रहे— एक दम साहित्यिक रँगवाला ड्रामा वहीं 'टोटली फ़ेल' न हो जाय।

फिर भी—रिहर्सल में मुझे जाना तो पड़ता ही था। किसी-किसी रात थिएटर देखने भी चला जाता था। हश्रजी का नया ड्रामा 'दिल की प्यास' तब वहाँ खिलने लगा था। जिस थिएटर में—स्त्री-पुरुष दोनों का समूह—स्टेज पर काम करता हो,—स्टेज के पीछे पान, सिगरेट के अलावा शराब भी चलती हो, वहाँ का 'चालचलन' पाकीज़ा कैसे रह सकता है? फिर कितने ही ऐक्टर-ऐक्ट्रेस के रहने के कमरे भी थिएटर से मिले हुए ही थे—जहाँ आज़ादी से मिलनेवाले मिलते थे। मुझे— न्यू अल्फ्रेड वाले को— इस रङ्ग-ढङ्ग से ग्लानि होना स्वाभाविक ही था। जब इतना लिख रहा हूँ, तो और भी कुछ लिखता हूँ।

एक इतवार को (जब कि तमाशा शाम को होता था) यह देखा कि राजपूताने के एक महाराजा साहब को वहाँ की ख़ास ख़ास ऐक्ट्रेसें और नर्तकियाँ घेरे बैठी हैं—और शराब पिला रही हैं। मुझे वह दृश्य इतना गिरा हुआ दिखाई दिया कि मैं तुरन्त ही वहाँ से—अपने ठहरने की

जगह लौट आया। आत्मा ने धिक्कारा—क्यों नहीं 'नाटक का शौक़' छोड़ता है ? अपने पुत्र 'घनश्याम' को उसी रात मैंने एक पत्र भेजा कि—"ऐसा महसूस कर रहा हूँ—मानो 'संडास' में रह रहा हूँ।"

राजे—महाराजे तो 'न्यू अल्फ़्रेड' में भी बहुत ज़्यादा आते थे, पर बाहर ही बाहर टिकट के दाम देकर, नाटक देखकर चले जाते थे। 'कानपुर' में एक महाराजा साहब ने न्यू अल्फ़्रेड के एक दो लड़कों को—स्वर्ण पदक (Gold Medals) खिलते नाटक में देने चाहे थे—कम्पनी के मालिकान ने उस रूप में वे नहीं लिए। 'भविष्य' (कानपुर) नाम के अखबार ने उसका 'दोष' मुझ पर लगाया था कि मैंने कम्पनी को ऐसा बना कर रक्खा है। पर—नहीं—वह कम्पनी पहले ही से ऐसी बन चुकी थी। 'भविष्य' को उत्तर 'श्री विश्वम्भरनाथ कौशिक' ने 'वर्त्तमान' अखबार द्वारा दिया था। उसे यहाँ उद्धृत करता हूँ। अंक की तारीख १६।१।२६ है।

'भविष्य' की ग़ैर ज़िम्मेदारी

घटना को तोड़ मरोड़ डाला।

स्थानीय दैनिक 'भविष्य' ने अपने ८ जनवरी सन् १९२६ के अङ्क में न्यू अल्फ़्रेड थियेट्रिकल कम्पनी तथा उसके सुयोग्य नाटककार पं राधेश्याम कथावाचक के सम्बन्ध में कुछ अनर्गल बातें लिख मारी हैं। पता नहीं 'भविष्य' के

रिपोर्टर कितनी लियाक़त के आदमी हैं, जो इतने ग़ैर ज़िम्मे दार हैं कि, उन्होंने गलत लिखने के साथ ही साथ पं राधेश्याम की नियत पर भी हमला कर डाला। एक दैनिक पत्र के लिए ऐसी ग़ैर जिम्मेदारी की बातें छापना बड़ी लज्जा की बात है। सर्व साधारण की जानकारी के लिए असली घटना नीचे दी जाती है।

पहली बात तो यह है कि, न्यू अल्फ्रेड ने अपने समस्त जीवनकाल में आज तक किसी के पदक स्वीकार नहीं किए। यहाँ तक कि, बम्बई के गवर्नर तथा स्वर्गीय निज़ाम हैदराबाद ने भी एक बार कम्पनी के ऐक्टरों को पदक देने की इच्छा प्रकट की थी। पर कम्पनी ने उसे स्वीकार नहीं किया। न्यू अल्फ्रेड का यह उसूल है कि वह ऐक्टरों के लिए कभी पदक स्वीकार नहीं करती। भरतपुर नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी राजा किशनसिंह ता० २८, २९, ३०, दिसम्बर को अपने दल बल सहित तमाशा देखने आये थे। तमाशे देख कर उन्होंने महाराज से सिफ़ारिश की, और महाराज ने तमाशा देखने की इच्छा प्रकट की। जैसा कि 'भविष्य' के रिपोर्टर ने लिखा है, कम्पनी ने महाराज से तमाशा देखने की प्रार्थना कदापि नहीं की थी। महाराज ने २ जनवरी शनिवार को स्पेशल-क्लास तथा पूरा ज़नाना दर्जा रिज़र्व कराया और ख़ास तौर से सजवाया। महाराज तमाशा देखने आये, और प्रबन्ध देखकर प्रसन्न हुए तथा कम्पनी के

मालिकों को धन्यवाद दिया। फिर ४ तारीख़ सोमवार को कम्पनी से आग्रह करके परम-भक्त प्रहलाद का तमाशा कराया, यद्यपि कम्पनी के प्रोग्राम में उस दिन प्रह्लाद का तमाशा नहीं था। उस दिन भी ज़नाना दर्जा—महल की तरह सजाया गया था, परन्तु उस दिन महाराज कुछ अस्वस्थ होने के कारण नहीं पधारे थे, महारानी साहिबा और प्राइवेट सेक्रेटरी अपने दल-बल तथा नगर के कुछ रईसों के साथ पधारे थे।

ता० ५ मङ्गलवार को रात के ९ बजे महाराज ने अपनी सवारी का—रोल्स रायस मोटर भेजकर कम्पनी के मालिकों से यह प्रार्थना की कि—वे अपना हारमोनियम मास्टर तथा कुछ गानेवाले भेज दें—क्योंकि बीमारी के कारण उनकी तबियत बेचैन है—अतएव इससे जी बहल जायगा। यद्यपि यह बात कम्पनी के नियम के विरुद्ध थी, परन्तु महाराज से कम्पनी के पुराने ताल्लुक़ात हैं—ऐसी दशा में मालिकों ने महाराज की प्रार्थना अस्वीकार करना उचित न समझा। विशेषतः ऐसी दशा में जब कि वह अस्वस्थ थे। अतएव कुछ गानेवाले भेज दिये गए। महाराज मालिकों के इस सद्व्यवहार से प्रसन्न हुए और उन्होंने मालिकों को धन्यवाद दिया।

बुधवार को पुनः महाराज के लिए वैसा ही प्रबन्ध किया गया। यद्यपि इस प्रकार के प्रबन्ध से कम्पनी को हानि होती

थी, क्योंकि - नगर की जनता लौट जाती थी, परन्तु कम्पनी ने इस हानि को सहन किया। उस दिन भी महाराज अस्वस्थ होने के कारण नहीं पधारे।

दूसरे दिन वृहस्पतिवार को महाराज अपने दरबारियों तथा नगर के रईसों के साथ पधारे। तमाशा देखकर प्रसन्न हुए और तीन लड़कों को पदक देने की इच्छा प्रकट की। कम्पनी के मालिकों ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया कि—कम्पनी में पदक लेने का नियम नहीं है, इसलिए महाराज क्षमा करें, और महाराज की इस गुणग्राहकता के लिए कम्पनी महाराज को धन्यवाद देती है। 'भविष्य' के रिपोर्टर ने जो लिखा है—कि प० राधेश्यामजी ने पदक नहीं लेने दिये—यह बिल्कुल ग़लत है। इसके बाद महाराज उठकर चले गये, क्योंकि—दूसरे दिन पोलो खेलना थी। उनके समस्त दरबारी तथा उनकें निमन्त्रित नगर के सब रईस बैठे रहे और उन्होंने अन्त तक तमाशा देखा। 'भविष्य' के रिपोर्टर के कथनानुसार यदि महाराज रुष्ट होकर जाते—तो उनके दरबारी क्यों बैठे रहते ? केवल उनके साथ पोलो खेलनेवाले—उनके साथ उठकर चले गये थे। कदाचित् इन्हीं को रिपोर्टर ने जनता समझ लिया होगा।

महाराज के चले जाने पर मालिकों ने प्राइवेट सेक्रेटरी से अपने बिल के रुपयों के लिए कहा—उन्होंने कहा कि—

'बँगले पर आकर लेजाना।' मालिक बँगले पर गये, पर हुक्म हुआ कि रुपये अभी नहीं मिलेंगे। मालिक वापिस आये। पीछे महाराज ने तीनों पदक डाक द्वारा ऐक्टरों के नाम से भेज दिये।

सच्ची बातें ये हैं जिन्हें 'भविष्य' के रिपोर्टर ने इतना तोड़ मरोड़ कर लिखा है, मुझे आशा है भविष्य में 'भविष्य' अपने ग़ैर जिम्मेदार रिपोर्टर की रिपोर्ट बहुत समझ-बूझकर छापेगा। —विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक।

यह जमाना अब शुरू हो चला था—कि राजे महाराजे 'थियेटर कम्पनियाँ' बनाएँ। 'कला' की उन्नति को या 'व्यापार' को वे ऐसा करने चले थे—इसका तो कोई ठोस 'प्रमाण' मुझे नहीं मिला।

महाराजा—चरख़ारी की 'करिन्थियन' नाम वाली 'कम्पनी' तो कुछ दिनों चली ही है। 'शरीफ़' और 'आग़ाहश्र' आदि बड़े बड़े कार्यकर्त्ता वहाँ रहे ही हैं। प्रबन्ध—'मैडन थिएटर्स' लिमिटेड ही ने किया है।

सन् १९३२ ईस्वी के अप्रैल का महीना था। क़ुदरत का चक्कर देखिए कि बरेली में मेरी धर्मपत्नी सख़्त बीमार हुई। रोग था—'संग्रहणी'। बरेली के प्रतिष्ठित वैद्य श्रीश्यामसुन्दरजी (तुलसीराम) ने तय किया—'मठे' का कल्प ४० दिन तक करना पड़ेगा—यानी 'खाने—पीने' में 'मठा' ही रहेगा।

तय ही नहीं किया 'कल्प' शुरू भी करा दिया। तब एक दिन 'धर्मपत्नी' ने मेरे पास जो ख़त भिजवाया वह बड़ा मर्म-स्पर्शी था। लिखा था—"पण्डितजी को मेरी जान से भी ज़्यादा नाटक प्यारा है"।

'कवि' कोमल कलेवर का स्वभावतः होता है—और फिर 'जन्मजात कवि ?'—कितना 'दर्दीला होता है—यह वही जानता है—हरएक आदमी तो उसको और उसकी हालत को समझ भी नहीं सकता। 'पत्र' पढ़ते ही मैं—'अबुलरहमान काबुली' से मिला—हाल सुनाया—कहा—"मैं तो आज ही शाम को 'पंजाब—मेल' से जाऊँगा। अब नाटक तुम पर छोड़ा।" उसने बहुत ही समझाया—पर वह सब बेकार था। इसी तरह 'श्री जहाँगीर शेठ' (मैनेजिंग डाइरेक्टर) से भी मिला और उस समय उनके समझाने बुझाने का भी असर बिल्कुल न पड़ा। हाँ—यह कह दिया कि—"जैसे ही तबीयत ठीक होगी—तुरन्त लौट आऊँगा।" सब सामान—और अपने विश्वासी सचिव 'छदम्मीलाल' को—वहीं—वैसे ही—छोड़ उसी शाम की 'मेल' से मैं बरेली चल दिया।

बरेली आकर जब 'धर्मपत्नी' को देखा—तो—निश्चय ही बहुत कमज़ोर थीं—शैया से उठना और 'शौचालय' तक जाना भी एक 'प्राणलेवा' काम था। मैंने समीप ही 'शौचालय' का प्रबन्ध कराया। फिर भी दो स्त्रियाँ—एक मेरी पुत्रवधू (घनश्याम—पत्नी) और दूसरी—मेरी धर्मपत्नी की सगी

बहन (अनन्दा)—जो बहन की बीमारी के कारण—भागूपुर (आगरा) से बरेली आगई थीं—अहर्निश सेवा ही में रहती थीं। १५--२० दिन बाद—कलकत्ते से पत्र आया—"२८ मई (१९३२) को 'महर्षि वाल्मीकि' 'स्टेज' कराने का प्रोग्राम है—तुरन्त आइये।' मैंने हिसाब लगाया तो धर्मपत्नीकी तबीयत तबतक—किसी प्रकार—ठीक नहीं हो सकती थी। लाचार लिख दिया कि—"नहीं पहुँच सकूँगा।" 'छदम्मीलाल' को भी लिख दिया कि 'मकान मालिक' का किराया देकर—मकान ख़ाली करके सब सामान 'लगेज' कराके बरेली आ जाओ। 'कम्पनी' वालों से भी—अगर वे मेरे हिसाब का रुपया देदें—तो लेते आओ।"

'छदम्मी' हिदायत के अनुसार बरेली आगया—पर 'कम्पनी' वालों ने उसे—मेरे हिसाब के रुपये नहीं दिए। मैं ने बरेली से भी लिखा फिर भी न भेजे। आजतक नहीं मिले वे रुपए। मैं उस अवसर पर चला जाता—तब तो मिल ही जाते। पर मुझे तो उन रुपयों से कहीं ज्यादा अपनी 'धर्मपत्नी' की 'जान' प्यारी थी।

मैं ने भी 'कापीराइट' (महर्षि वाल्मीकि का) लिखकर 'कम्पनी' (मैडन थिएटर्स) को नहीं दिया।

'जीवन' में पहला ही अवसर था—कि अपने ही लिखे नाटक 'महर्षि वाल्मीकि' को 'स्टेज' पर मैं नहीं देख सका। कलकत्ता ही क्या;—कहीं भी नहीं देख सका।

भाई नरोत्तम व्यास के पत्र से मालूम हुआ कि ख़ूब सफल रहा। मालूम तो यहाँ तक हुआ कि 'वसुमती' (बंगला अख़बार) ने आलोचना में लिखा कि—"यही पहला आध्यात्मिक नाटक है, और इतना अच्छा है कि यही शायद अन्तिम आध्यात्मिक नाटक हो।"

कुछ भी हो। 'वाल्मीकि' लिखने के बाद—इतना तो मेरे हृदय को 'सन्तोष' हुआ ही—कि 'इन्द्रसभा' से शुरू होने वाला 'पारसी स्टेज़'—अब 'महर्षि वाल्मीकि' तक आगया।

वास्तव में तो—उर्दू के अश्लील स्टेज को हिन्दी का पवित्र स्टेज बनाने का मेरा यह 'काल' बीच की एक 'कड़ी' है। अब भविष्य के 'नाटककारों' का कर्तव्य है कि वे इसे और भी उत्तम बनायें। बिल्कुल आदर्श बनायें।

सत्य ही समझिए—निश्चय सत्य। इस पुस्तक के लेखन में—असावधानी से कहीं भी कोई वाक्य ऐसा लिख गया हो—जिसमें मैं ने अपनी 'शान' दिखाई हो—तो वह मेरे 'मन' और मेरी 'आत्मा' का वाक्य नहीं है। मैं तो अपना 'नाटक-काल' ज्यों का त्यों लेखनी बद्ध कर रहा हूँ—और इस लिए कर रहा हूँ कि भविष्य में 'नाटक का इतिहास' लिखने वालों को इस से कुछ सामग्री मिल जाए।

पण्डित नरोत्तमजी व्यास को निश्चय ही मुझ से ऐसा स्नेह हो गया था कि वे उस समय के सभी नाटककारों से आगे मुझे देखना चाहते थे। काशी के स्वनाम धन्य बाबू श्यामसुन्दर

दास जी की एक पुस्तक "रूपक रहस्य" उन्हीं दिनों प्रकाशित होकर कालेजों में पहुँची; खास तौर पर—हिन्दी एम० ए० क्लास के विद्यार्थियों को 'नाटक' का ज्ञान कराने के लिए। श्री व्यासजी की नज़र में वह कहीं आगई। उनके मन की अभिलाषा दूर तक उस से पूरी होरही थी। उन्हों ने 'बड़े हर्ष के साथ' उसका समाचार मुझे दिया। "रूपक रहस्य" खरीद कर अपने नाम वाला भाग मैंने भी पढ़ा। उसके उस भाग को मैं यहाँ 'आत्मसम्मान' की दृष्टि से उद्धृत नहीं कर रहा हूँ बल्कि, इसलिए कर रहा हूँ—कि 'हिन्दी नाटकों' का इतिहास जानने में पाठकों को उससे भी एक जानकारी मिलती है –

"यों कहने को चाहे हिंदी में 'नेवाज' कवि-कृत शकुन्तला, हृदयराम-कृत हनुमन्नाटक, या ब्रजवासीदास-कृत प्रबोधचंद्रोदय आदि कई सौ वर्ष पहले के बने हुए कुछ नाटक वर्त्तमान हों, पर वास्तव में नाट्य-कला की दृष्टि से वे नाटक नहीं कहे जा सकते; क्योंकि उनमें नाटक के नियमों का पालन नहीं किया गया है और वे काव्य ही काव्य हैं। हाँ, प्रभावती और आनंदरघुनंदन आदि कुछ नाटक अवश्य ऐसे हैं जो किसी प्रकार नाटक की सीमा में आ सकते हैं। कहते हैं कि हिन्दी का पहला नाटक भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र के पिता श्रीयुत बाबू गोपालचन्द्र उपनाम गिरधरदास-कृत 'नहुष नाटक' माना जाना चाहिए; पर वह भी साधारण बोलचाल की हिन्दी में नहीं, ब्रजभाषा में है। इसके उपरान्त राजा लक्ष्मणसिंह ने

शकुन्तला नाटक का अनुवाद किया था। यद्यपि यह नाटक भाषा आदि के विचार से बहुत अच्छा है, परन्तु इसे मौलिक नाटक नहीं कह सकते; क्योंकि यह कालिदास-कृत अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक का अनुवाद है। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने तो मानो नाटक-रचना से ही आधुनिक हिन्दी को जन्म दिया था। उन्हों ने चौदह नाटक लिखे थे, जिनमें से अधिकांश अनुवाद नहीं तो छायानुवाद अवश्य थे। तो भी उनके कई नाटक बहुत अच्छे हैं और अब भी अनेक स्थानों में समय समय पर खेले जाते हैं। लाला श्रीनिवासदास-कृत 'रणधीर-प्रेम-मोहिनी' या प० केशवराम भट्ट-कृत 'सज्जाद-संबुल' और शमशाद-सौसन नाटक अच्छे तो अवश्य हैं, पर वे प्रायः इतने बड़े हैं कि उनका पूरा पूरा अभिनय नहीं हो सकता। यही, बल्कि इससे भी कुछ बढ़कर, दशा प० बद्रीनारायण चौधरी-कृत भारत-सौभाग्य नाटक की है। बाबू तोताराम-कृत 'केटो-कृतांत' या पण्डित बालकृष्ण भट्ट के कुछ नाटक हैं सही, पर कई कारणों से उनका भी सर्वसाधारण में विशेष आदर नहीं है। यही बात साहित्याचार्य पण्डित अंबिकादत्त व्यास-कृत 'ललिता' नाटिका, 'वेणीसंहार' और 'गो-संकट' आदि नाटकों की है। हिन्दी में मृच्छकटिक नाटक के तीन अनुवाद हैं, पर उन में से एक भी रङ्गशाला के योग्य न होने के कारण सर्वप्रिय न हो सका। बाबू राधाकृष्णदास के 'महाराणा प्रताप' नाटक का कुछ आदर अवश्य हुआ है, किन्तु नाट्य-शास्त्र की दृष्टि से तथा अभिनय-

शीलता के विचार से उसमें बहुत त्रुटियाँ हैं। इन नाटकों के अतिरिक्त हिन्दी में कुछ और मौलिक या संस्कृत से अनूदित नाटक भी हैं जो विशेष उल्लेख योग्य नहीं जान पड़ते। राय बहादुर लाला सीताराम बी० ए० ने संस्कृत के कई नाटकों का अनुवाद किया है, पर वे अनुवाद बहुत अच्छे नहीं हुए हैं। स्वर्गवासी पण्डित सत्यनारायण कविरत्न-कृत 'मालतीमाधव' और 'उत्तररामचरित' के अनुवाद स्थायी साहित्य में स्थान पाने योग्य अवश्य हैं। भारतेंदुजी के कुछ काल अनन्तर हिंदी में अनुवाद की धूम मची और बंगला से अनेक उपन्यासों तथा नाटकों के अनुवाद प्रकाशित हुए, विशेषतः काशी के भारत-जीवन प्रेस से ऐसे कई नाटकों के अनुवाद निकले। इधर कुछ दिनों से अनुवादों की संख्या और भी बढ़ गई है जिन में से विशेष उल्लेख योग्य बँगला के सुप्रसिद्ध नाटककार श्रीयुत द्विजेंद्रलाल राय तथा गिरीश घोष के नाटकों के अनुवाद हैं। राय महाशय के प्रायः सभी नाटकों के सुन्दर अनुवाद बम्बई के हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय से प्रकाशित हुए हैं। इधर दस बीस वर्षों के भीतर हिंदी में कुछ मौलिक नाटक बने हैं। इनमें स्वर्गीय मास्टर विश्वंभरसहाय 'व्याकुल' का गौतमबुद्ध नाटक सर्वोत्तम है। यह नाटक भाषा, भाव, रस, वस्तु, अभिनयशीलता तथा चरित्र-चित्रण आदि के विचार से हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय है। खेद है कि अधिकारियों ने अभी तक उसे प्रकाशित नहीं कराया है : इसके अनन्तर पण्डित राधेश्याम

'कविरत्न' तथा नारायणप्रसाद 'बेताब' पौराणिक नाटकों के लिए और बाबू हरिकृष्ण जौहर सामाजिक नाटकों के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन तीनों नाटककारों ने पारसी रङ्गमंच की बिल्कुल काया पलट दी है और उर्दू नाटकों के स्थान पर हिंदी नाटकों को स्थान दिलाया है। इन तीनों में पण्डित राधेश्याम की भाषा सब से अधिक परिमार्जित और सुव्यवस्थित है। इन तीनों नाटककारों के नाटकों ने रङ्गमंच पर पूर्ण सफलता प्राप्त की है और जनता की चित्तवृत्ति बदल दी है। पण्डित राधेश्याम के वीर अभिमन्यु, परमभक्त प्रह्लाद, श्रीकृष्ण-अवतार और रुक्मिणी-मंगल नाटक, पंडित नारायणप्रसाद 'बेताब' के महाभारत और रामायण तथा बाबू हरिकृष्ण 'जौहर' के पति-भक्ति आदि नाटक अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। राजनीतिक नाटक लिखने वालों में किशनचंद जेबा का नाम प्रसिद्ध है, किन्तु उनके नाटकों में उर्दूपन भरा रहता है। उनके ज़ख़्मी पंजाब, पद्मिनी, ज़ख़्मी हिन्दू, शहीद सन्यासी, कबीर और महाराणा प्रताप आदि नाटक उल्लेखनीय हैं। इधर कुछ वर्षों से काशी के बाबू जयशंकरप्रसाद ने साहित्य के इस अंग की पूर्ति की ओर विशेष ध्यान दिया है और उनको मौलिक नाटक लिखने में सफलता भी हुई है; किन्तु उनके नाटकों में सब से बड़ा दोष यह है कि वे रङ्गमंच के योग्य नहीं होते। उनकी भाषा भी ठेठ साहित्यिक होती है। उनके लिखे हुए नाटकों में से अजातशत्रु, जनमेजय, स्कंदगुप्त और विशाख आदि नाटक

बहुत अच्छे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यिक दृष्टि से 'प्रसादजी' के नाटक उत्तम कोटि के हैं।"

सस्तामंडल अजमेर से प्रकाशित होने वाली पत्रिका "त्यागभूमि" में तो श्री उपाध्यायजी (गोपीवल्लभ) ने लगातार कई अंकों में 'श्रीराधेश्याम नाटकावली' के नाम से—मेरे नाटकों की पूरी 'आलोचना' ही निकाली है। वे 'नाटक कम्पनी' में रहे हैं—उन्हें 'स्टेज' की जानकारी है—इस कारण उनके लेखों में से 'कुछ' यहाँ देता हूँ। 'सब' देना तो इस पुस्तक का 'कलेवर' बढ़ाना है। 'त्यागभूमि' वर्ष २ अंश ६ के पृष्ठ ७२७ से यह 'कुछ' उद्धृत है।

श्रीराधेश्याम नाटकावली

इन दिनों हिन्दी-जगत् में कितने ही नाटक ऐसे देखे जाते हैं, जिन पर "रंगमंच पर सफलता पूर्वक खेले जाने योग्य" तो लिखा रहता है; किन्तु उन में से अधिकाँश इस योग्य नहीं होते। इसीलिए स्टेज की बारीकियों से जानकारी रखने वाले व्यक्ति—आधुनिक नाटक लेखकों की इस अनधिकार-चेष्टा को उपेक्षा की ही दृष्टि से देखते हैं। क्योंकि वे भली भाँति समझते हैं कि किसी नाटक को लिख देने के बाद उसे सफलता पूर्वक अभिनय कर दिखाने के लिए साधारण ऐक्टर से लेकर स्टेज-मास्टर तक को कितना दिमाग़ लड़ाना पड़ता है; किस प्रकार दृश्यों की योजना, पात्रों का कार्य-विभाजन, उनकी प्रसंगोपात्त

भाषा एवं गद्य-पद्यात्मक भाषण-शैली में—रिहर्सल और स्टेज होने के पूर्व तक सुधार करना पड़ता है; उसे आजकल के रंनि साहित्यकार नाटककार नहीं जान सकते और इसीलिए उनका उपर्युक्त दावा निस्सार है। हाँ, उनके नाटक पढ़कर पाठकों को साहित्यिक आनन्द का अनुभव अवश्य हो सकता है; और बहुत हुआ तो केवल साहित्यिक दृष्टि से देखने वाला हजार में एक-आध दर्शक उनका अभिनय होते समय किसी अव्यक्त आनन्द का उपभोग भी कर सकता है। किन्तु शेष नौ-सौ-निन्यानवे व्यक्ति उस साहित्यिक नाटक को नीरस ही बतायेंगे। इसलिए स्टेज पर खेले जाने योग्य नाटक लिखने के उम्मीदवारों को पहले किसी नाटक-कम्पनी में जाकर, जिस किसी प्रकार से हो, कुछ महीने स्टेज और अभिनय की बारीकियों का अध्ययन करना चाहिए। बरेली-निवासी कीर्तन-कलानिधि पं० राधेश्यामजी कथावाचक के नाटक आज पन्द्रह वर्ष से बम्बई की न्यू अल्फ्रेड थिएट्रिकल कम्पनी द्वारा भारत के प्रायः सभी बड़े बड़े शहरों में अभिनीत हो रहे हैं। जिस किसी ने एक बार उनके नाटकों को देखा है, वह कभी उनकी विशेषताओं को नहीं भूल सकता। उनके नाटकों में चरित्र की महत्ता, आदर्श की उच्चता और सामयिकता के साथ गम्भीर एवं मार्मिक बिनोद इतनी सफलता के साथ प्रदर्शित किया जाता है कि प्रत्येक विचारवान् दर्शक उनकी इस सफलता पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता।

पण्डितजी का सब से पहला नाटक है 'वीर अभिमन्यु'। जब सबसे पहली बार इस नाटक का अभिनय हुआ तो भाव, भाषा और वेष भूषादि की दृष्टि से इस नाटक को देखकर दिल्ली की जनता आश्चर्य-मग्न हो गई ! क्योंकि इसके पहले शायद केवल उर्दू के ही नाटकों का दौरदौरा था।

नाटक के आरम्भ में बरेली के सुयोग्य विद्वान् नेता श्रीयुत बाबू जियाराम सकसेना एम० ए० की विचारपूर्ण एवं आलोचनात्मक भूमिका है; जिस से पता चलता है कि उन्होंने इस नाटक को केवल पढ़ा ही नहीं बल्कि रंगमंच पर इसका अभिनय भी बारीकी के साथ निरीक्षण किया है। और इसी दृष्टि से उनकी आलोचना बड़े महत्त्व की हुई है। इन पंक्तियों का लेखक भी इस नाटक का दो-एक बार ही नहीं बल्कि पूरे चौबीस बार रंगमंच पर अभिनय होते देख चुका है; और प्रत्येक बार उसे इसकी नई-नई विशेषताओं का अनुभव होने से बराबर अतृप्ति ही रही।

जैसा कि आजकल देखा जाता है, हिन्दी के अधिकाँश नाटक भाव-भाषा की दृष्टि से उच्च रहने पर भी केवल पढ़ने ही के काम के रहते है और स्टेज पर सफलता पूर्वक नहीं खेले जासकते। यह बात इस नाटक के विषय में नहीं कही जा सकती; क्योंकि पण्डितजी का यह नाटक स्टेज पर तो सफलता पूर्वक खेला ही जा रहा है किन्तु इसी के साथ-साथ इस को पढ़ कर साहित्यिक आनन्द का आस्वादन भी भली भाँति किया

जा सकता है। सारांश, यह नाटक सब प्रकार से उपयोगी और पठनीय हुआ है।

इसी प्रकार वर्ष २ अंश ४ के पृष्ठ ४५७ पर—'परमभक्त प्रह्लाद' के सम्बन्ध में लिखा है—

यह नाटक पंडितजी की नाटकावली का तृतीय पुष्प है। इसमें आपने परमभक्त प्रह्लाद के कथानक को सन् १९२० ई० के सत्याग्रह और असहयोग-आन्दोलन की घटनाओं के साथ इस ख़ूबी से संलग्न किया है कि रंगमञ्च पर अभिनय देखते समय बारम्बार दर्शक को यही भ्रम होता है, मानो वह विगत असहयोग-आन्दोलन को ही प्रत्यक्ष देख रहा है।

महामना मालवीयजी ने भी इस नाटक का रंगमंच पर अद्भुत अभिनय देखकर गद्गद् कंठ हो सजल नेत्र एवं पुलकित हृदय से आशीर्वाद देते हुए पंडित राधेश्यामजी के लिए धन्य-धन्य ही कहा था; और यथार्थ में यह नाटक है भी ऐसा ही। इन पंक्तियों के लेखक ने भी इस नाटक को लगभग चालीस बार देखा है; और फिर भी उसे इससे अरुचि नहीं हुई।

इस नाटक में श्यामलता और प्रमोद दोनों के चरित्र अपूर्व हुए हैं। स्त्री-चरित्र का उच्चादर्श दिखाना भी इसकी एक ख़ास विशेषता है।"

'उषा अनिरुद्ध' के सम्बन्ध में है—

यह पंडितजी का चौथा नाटक है। इसकी रचना सन् १९२४-२५ ई० वाली हिन्दू-संगठन की धूम के समय हुई है;

और ऐसी प्रत्येक सामयिक घटना को इतिहास रूप में ग्रथित कर देना ही पं० राधश्यामजी के नाटकों का एक प्रधान लक्ष्य रहता है। अतः इसमें भी आपने शैव और वैष्णवों के रूप में "हिन्दू-अहिन्दू" के संघर्ष को बड़ी सुन्दरता से दिखाया है।

इसके प्रहसन में भी आधुनिक साधू एवं महन्तों का ख़ासा ख़ाका खींचा गया है। उनकी ऊटपटाँग बातें पढ़कर जहाँ एक ओर हँसते हँसते पेट पकड़ लेना पड़ता है, वहीं उनकी गिरी हुई दशा पर भी आँसू बहाए बिना नहीं रहा जा सकता।"

'परिवर्तन' के सम्बन्ध में है—

प्रकाशन की दृष्टि से यह नाटक पंडितजी की नाटकावली का पाँचवाँ पुष्प है; किन्तु वैसे इसका नम्बर दूसरा ही कहा जाना चाहिए। क्योंकि 'वीर अभिमन्यु' की भूमिका में इसके तैयार हो जाने की सूचना निकल चुकी थी। इस दृष्टि से कुछ मनचले समालोचकों का यह लिखना कि यह नाटक स्व० डी० एल० राय के "उसपार" को तोड़-मरोड़ कर लिखा गया है—कहाँ तक ठीक हो सकता है; विवेकशील पाठक स्वयं ही विचार करें। क्योंकि जहाँतक स्मरणशक्ति काम देती है; हिंदी में "उसपार" सन् १९१७ या १८ के पहले नहीं निकला; और बँगला भाषा पंडित राधेश्यामजी जानते नहीं। तब यह क्योंकर संभव है कि पंडितजी ने इसमें 'उसपार' की तोड़ मरोड़ की है?

शुरू से अन्त तक इस नाटक में जो दृश्य दिखाई देता है वह एकदम स्वाभाविक-सा प्रतीत होता है। क्योंकि मनुष्य-

जीवन में दिन रात जो परिवर्तन होते रहते हैं, उन्हीं का प्रत्यक्ष चित्र इसमें दिखाया गया है। इसीलिए इसका 'परिवर्तन' नाम सार्थक भी है। इसका प्रहसन वाला अंश भी सामयिक और शुद्ध विनोदात्मक होने से—निर्दोष है।"

'मशरिक़ी हूर' के सम्बन्ध में है—

जैसा कि हम "परमभक्त प्रह्लाद" की आलोचना में लिख चुके हैं, "श्यामलता" का चरित्र महिला-समाज के सम्मुख आदर्श चित्र है। इसी प्रकार परिवर्तन की "चन्दा" ने जहाँ समाज-सेवा का नया आदर्श दिखाया है वहाँ इस नाटक की नायिका "हमीदा" का चित्रण एकदम ही वीरतापूर्ण हुआ है।"

'त्यगभूमि' के और अङ्क 'फ़ाइल' में नहीं मिले। कहीं 'रिल' गए—अन्यथा—और नाटकों के सम्बन्ध में भी उनकी 'राय' पाठकों के सामने आजाती। अब न सही तो न सही। यही बहुत है।

'धर्मपत्नी' सन् १९३३ में पूर्ण स्वस्थ हो सकी। 'कलकत्ता' छूट गया तो छूट ही गया। 'राधेश्याम प्रेस' ही के काम में अब मैं जमकर बैठा। अगले वर्ष नेकपुर—'गंगारोड' के किनारे के कई खेत ख़रीद कर 'बाग़' लगाने और 'कोठी' बनाने की धुन सवार हुई। बड़ा अच्छा था यह शौक़। रोज़ बड़े तड़के 'धर्मपत्नी सहित' वहाँ जाकर—फूलों के बिरवे लगाना, फलों के पेड़ क़ायम करना,शाकपात बोना ही'शग़ल'था। स्नान, भजन भी वहीं होता था;—कभी कभी भोजन भी। दालबाटी। कैसे

अच्छे थे वे दिन ? हम दोनों ही का स्वास्थ्य इस प्रोग्राम के कारण बड़ा अच्छा हो गया। १-६-३४ को मेरे पौत्र हुआ— घनश्याम का लड़का 'विश्वनाथ'। तब मेरे पिता (प० बाँके-लालजी) जीवित थे। सोने की सीढ़ी पर वे चढ़ाए गए थे। चढ़े तो मेरे बाबा प० नन्नूमलजी भी सोने की सीढ़ी पर हैं। उनके जीवन ही में घनश्याम पैदा हो गया था। एक-दो नाटक कम्पनियों के 'बुलावे' इन दिनों भी आगए। इन्कार कर दिया 'फ़िल्म' वाले भी बुलाने लगे। अजमेर से कोई 'राजपूताना' कम्पनी बनी थी—पेशावर से 'पंजाबी'। दोनों के मैनेजिंग डायरेक्टर और मालिक बरेली आए, कई दिन रहे—पर मैं तैयार नहीं हुआ। मेहनताना इतना ज़्यादा बता दिया कि वे स्वीकृति ही न दे सके।

फिर भी 'श्रीमोतीलालजी मिस्त्री' (अहमदाबाद) की फ़र्माइश को मैं टाल न सका, उनसे मेरा 'न्यू अल्फ़्रेड' के ज़माने से परिचय था; वे उक्त कम्पनी में आते रहते थे। उनके कहने पर मैं ने 'श्रीसत्यनारायण' की स्टोरी लिख दी। देने जब अहमदाबाद गया तो वहाँ अकस्मात एक 'सन्त' के दर्शन हुए। उनका नाम था—'श्रीनित्यानन्दजी महाराज'। उन के भक्त उन्हें 'बापजी' कहा करते थे। गुजरात में 'बापजी' नाम आदरसूचक है—जो अपने बड़े के नाम के आगे लगाया जाता है। 'श्रीगान्धीजी' के नाम के साथ भी 'बापू' चला, खूब चला; 'बापू' नाम की पुस्तक तक निकली। उन्हीं

श्रीबापजी की सेवा में सन् १९३६ से १९४० तक मेरा अधिक समय व्यतीत हुआ है। उनके दर्शनों को खंभात (गुजरात) नार (गुजरात) रतलाम (मालवा) धार (मालवा) में प्रायः जाता रहा हूँ। अब उनका शरीर नहीं है, उनकी समाधि है। धार में, श्री नित्यानन्देश्वर महादेव के नाम से। यह असलियत है कि इतने मस्त सन्त मैंने अपने जीवन में नहीं देखे। यों तो मेरे यह वर्ष 'सन्तसेवा' ही में अधिक व्यतीत हुए हैं। जगद्गुरु श्रीब्रह्मानन्द सरस्वती शङ्कराचार्य ज्योतिर्मठ, श्री करपात्रीजी, धौलपुर के बाबा रामदास, जैसे बड़े बड़े सन्त बार बार आए हैं—और मुझे सेवा करने का अवसर उन्हों ने दिया है। जङ्क्शन स्टेशन के पार, बदायूँ रोड पर, चालीस हज़ार की लागत से एक बाग़, उसमें दो कोठियाँ, भोजनभण्डारघर, यज्ञशाला, मोटर-गेराज आदि बनवाकर - सन्तों को वहाँ ठहरा कर—कथायें, कीर्तन, यज्ञ, भण्डारे कराकर—अपने को और उस स्थान को निश्चय ही पावन बनाया है। अब भी कभी कभी वहाँ ऐसे धार्मिक आयोजन होते रहते हैं।

हाँ—तो 'श्रीसत्यनारायण'—फ़िल्म निकालने का जब समय आया तो श्री 'मोतीलाल मिस्त्री' ने मुझे बम्बई बुलाया। मैं अपने साथ अपने कनिष्ठ पुत्र बलराम को भी लेगया; सोचा था—'फ़िल्म लाइन' तरक्क़ी पर है बलराम को उसमें लगादूँ। यों बलराम को मैं 'कथा' कहना सिखा ही चुका था, तालीम भी उसकी एम० ए० तक पूरी करा चुका था। एल० एल० बी० भी

हो चुका था। बात समझने में—और बात करने में—कुशलता प्राप्त कर चुका था।

बम्बई में—'अन्धेरी' के एक बँगले में हम लोग ठहराए गए। थोड़ी देर में 'भोगीलाल' (न्यू अल्फ़्रेड वाले) आगए; मालूम हुआ कि वेही फ़िल्म का 'डाइरेक्शन' करेंगे। मैं मन ही मन बहुत हँसा। आज तक किसी स्टूडियो में उन्होंने क़दम तक नहीं रक्खा था, वे क्या जानें 'कैमरे' का घुमाव और 'फ़िल्म की साउण्ड'। एक महीना यूँ ही बीत गया। कुछ लड़कियों को नाच सिखाया करते थे—भोगीलाल। कहानी की 'सिनारियो' एक घण्टा भी बैठकर किसी दिन उन्हों ने नहीं बनवाई। आखिर 'श्रीमोतीलालजी मिस्त्री' के ध्यान में जब यह बात आई तो उन्हों ने 'भोगीलाल' को अलहदा कर दिया।

बम्बई में कोई भी फ़िल्म निकालने की बात जब शुरू होती है—तो साधारण श्रेणी के डाइरेक्टर, ऐक्टर आदि इस प्रकार आकर घेरते हैं—जैसे तीर्थस्थान पर पहुँचने पर—वहाँ के पण्डे। 'फ़िल्म निकालने वाले' पर रुपये की कमी हुई, या कम खर्च में काम निकालने की मनोवृत्ति हुई—तो वह उन साधारण कार्यकर्ताओं में से ही अपनी पसन्द के काम करने वाले चुन लेता है—या बातों की ताक़त वाले अथवा ख़ुशामदपरस्त—चतुर लोग, जो उसके (मालिक के) सिर चढ़ जाते हैं—उन्हें वह चुनता है।

सच्चे अर्थों में जो 'कलाकार' हैं—वे तो स्वयं—अपने आप किसी 'फ़िल्म निर्माता' से मिलने नहीं आते। बुलाने पर आते हैं—और खाली होते हैं तो 'मुँह माँगी' दक्षिणा पर 'कण्ट्राक्ट' कर लेते हैं, और फिर उसे निभाते भी हैं। 'मोतीलालजी मिस्त्री' को ऐसे 'कलाकार' नहीं मिल सके। बम्बई का प्रोग्राम भी उन्हों ने कैंसिल किया—और 'पूना' में 'दादा तोरणे' का 'सरस्वती सिनेटोन' तय किया। 'लीला चिटनिस' ही एक नामी ऐक्ट्रेस रही: बाक़ी सब स्टाफ़ साधारण। डायरेक्टर एक नए नौजवान—'द्रुपदराय' मुक़र्रर हुए। कहानी की सिनारियो (छोटे छोटे बीसियों सीन) डाइरेक्टर की राय मिलाकर जब 'सुदृढ़' हों—तब संवाद लिखे जायें। इतने से काम के लिए—उक्त डाइरेक्टर ने एक महीना लगा दिया। मैं यह सब स्वयं कर सकता था—पर मेरे किए हुए को डाइरेक्टर साहब अपने दृष्टिकोण के अनुसार बिना 'काँट छांट' किए 'पास' नहीं करते;—तब मैं क्यों परिश्रम करूँ? डाइरेक्टर साहब ने जैसे सम्वाद लिखवाए—लिख दिए। जैसे—गानों के बोल बनवाए बना दिए। लिखने और बनाने की उमंग तो तब बढ़ती है जब साथी भी—उमंग बढ़ाने वाला होता है। दादा गुंजाल (शायद—द्रुपदराय के गुरु) सामने होते—तो वे निश्चय उमङ्ग बढ़ाते। कितने ही बरसों के बाद 'गुंजाल' से मेरा 'अच्छा प्रेम-भाव' बढ़ा है। मेरी आदर की दृष्टि भी उनके प्रति है।

पार्ट जब कमज़ोर बैठ रहे थे—तो मैं ने चौबे रामकृष्ण (न्यू अल्फ्रेड वाले नारद) को बुलाकर 'शतानन्द' का पार्ट उसे दिलवा दिया। साधुराम कृपण वैश्य का पार्ट चमकदार था। कई बार यह बात ध्यान में आई कि 'बलराम' (अपने कनिष्ठ पुत्र) को जब साथ लाया हूँ—तो उसे इस लाइन में डाल ही दूँ। एक रात तो उस से कह भी दिया कि तुम'साधुराम' के पार्ट पर ध्यान दौड़ाओ। पर यह विचार—बलराम से पार्ट कराने का विचार—कई दिन बाद ही छोड़ देना पड़ा। वह विचार ही नहीं छोड़ा; - वह कम्पनी ही हम दोनों को छोड़ देनी पड़ी।

'मैडन थिएटर्स' में वेश्यायें रहती थीं; वेश्याओं का ऐक्टरों से अनुचित सम्बन्ध—अनुचित होने पर भी- इतना अनुचित नहीं था—जितना कि 'फ़िल्मी लाइन' में काम करने वाली—अपने लिए गृहस्थिन कहने कहलाने वाली- युवतियों का इस लाइन में देखा। 'कथावाचक' या 'कथावाचक का पुत्र'—ऐसे वातावरण में रहना क्या;—उसे देख तक नहीं सकता था। यही कारण था कि हम (दोनों) ने बरेली लौटने का इरादा करलिया। शायद थोड़े दिन और ठहर जाते—पर 'मोतीलाल मिस्त्री' को दमे के दौरे पड़ने लगे—और उन्हों ने सारा भार 'डायरेक्टर' पर डालकर—पूना आना बन्द कर दिया था; बम्बई ही उस मास रहे। बरेली आने के बाद हमने सुना कि 'दादा तोरणे' ने उस फ़िल्म का सुपरवीज़न किया—और कुछ कम एक वर्ष में फ़िल्म

निकल पाया। 'मुहूर्त' तो हमारे सामने ही हो गया था—और 'मुहूर्त' कराया था श्रीशान्ताराम (प्रसिद्ध डाइरेक्टर) ने। तभी से मेरा उन से परिचय क़ायम है। यह वह ज़माना था—जब श्रीसोराब मोदी भी—उसी 'सरस्वती सिनेटोन' में अपना 'ख़ून का ख़ून' (हेमलेट) 'नसीम' के साथ खिंचवा रहे थे।

आज तो सिनेमा-संसार में—स्टोरी-राइटर तथा सम्वाद-लेखक एवं गीतकार तीनों प्रकार के व्यक्ति पृथक्-पृथक् अपना-अपना काम करते हैं। अर्थात् स्टोरी लिखनेवाले ने स्टोरी लिखकर मालिक और डाइरेक्टर को पसन्द करादी, उनकी राय से जो हेर-फेर ज़रूरी हुआ—वह कर दिया। उसके बाद सम्वाद लिखनेवाले ने-आवश्यक स्थानों पर मालिक और डाइरेक्टर को पसन्द आजाने वाले सम्वाद लिख दिए। फिर गीतकार ने गीतों के बोल बना दिए। गीतकार का म्यूज़िक डाइरेक्टर से भी सम्बन्ध रहता है। गीतों के स्थान भी चुनने पड़ते हैं।

पर 'श्रीसत्यनारायण' वाले मेरे समय में—स्टोरी, संवाद और गीतों का भार एक ही व्यक्ति पर रहता था। यह प्रथा उस समय के सिनेमा संसार में 'नाटक' ही से आई थी।

'नाटक' में स्टोरी, संवाद और गीतों का लिखना ही नहीं—बल्कि डाइरेक्शन में भी लेखक का तब बड़ा हाथ रहता था।

श्री आगाहश्र ने और मैंने—अपने कितने ही नाटकों का स्वयं ही—अथ से इति तक—डाइरेक्शन किया है, तभी वे नाटक अपने मन के मुताबिक़ खिले हैं।

दो मास तक—बम्बई और पूने में रहने के कारण-परिचित अपरिचित कितने ही सज्जन मुझसे मिलने आए थे। 'टाइम्स आफ़ इण्डिया' के इलस्ट्रेड वीकली पत्र ने तो अपने 'मुखपृष्ठ' पर मेरा एक बड़ा चित्र निकाला था कि मैं—'श्रीसत्यनारायण' निकलवा रहा हूँ। पर मुझे रह रह कर दुःख हो रहा था—कि मैं अपनी देखरेख में 'श्रीसत्यनारायण' का 'शूटिङ्ग' करा हो कब रहा हूँ? नहीं कराने का कारण लिख ही चुका हूँ। फिर भी जब फ़िल्म निकल गया तो चौबे रामकृष्ण ने मुझे लिखा कि 'जनता ने पसन्द किया'। मैंने आज तक उसे—'सत्यनारायण चित्र' को—देखा ही नहीं है। उसी तरह—जिस तरह नाटकों में—अपना 'महर्षि वाल्मीकि' अभी तक नहीं देखा है। मेरी ग़ैरहाजिरी में—बरेली में—जब—'श्रीसत्यनारायण' आया तो बलराम ने ज़ुरूर देख लिया। और जब मैं बरेली आया तो मुझसे कहा—'संवाद ख़ूब चमके हैं।' मैंने मन ही मन में कहा—यह वह सब्जैक्ट है—जो 'हिट' (Hit जाना चाहिए था—पर कम्पनी के और मेरे भाग्य में इतना ही था। 'श्रीमोतीलालजी मिस्त्री' के एक पार्टनर उस के बाद मुझे बम्बई में मिले थे—उन्हों ने बताया था कि—'श्रीसत्यनारायण' घाटे की पिक्चर नहीं रही।

उन दिनों का एक खेद और भी रहा। 'बाम्बे टाकीज़' के सर्वेसर्वा 'श्रीहिंमाशुराय' से मेरी दो तीन मुलाकातें हो गई थीं। वे चाहते थे कि मैं 'बाम्बे टाकीज़' से 'लेखक का सम्बन्ध' बाँध लूँ। चाहा तो १-२ बार मैंने भी ऐसा था। पर सम्बन्ध न जुड़ने का कारण मेरे 'टर्म्स' थे। मेरे दिमाग़ में 'न्यू अल्फ़्रेड' की 'मासिक वृत्ति' और 'शान' थी—और 'श्रीहिमांशु राय' ने नई कम्पनी (बाम्बे टाकीज़) 'स्टार्ट' की थी। उन्हों ने अपने 'बजट' के अनुसार ठीक ही ठीक खर्च की धारणा बनाई थी;—मेरे 'अनापशनाप' मांगने के कारण वे 'मौन' हो गए। यदि मैं उनके मन के अनुसार तब 'सम्बन्ध' जोड़ लेता - तो आज 'नाटककार' ही की भाँति 'फ़िल्मकार' होता—और 'कमाई' तो 'इस लाइन' ही में होती है—'नाटक की लाइन' में ऐसी कहाँ ?

पर—अब सोचता हूँ—तो इस नतीजे पर पहुँचता हूँ कि प्रकृति ही मुझे—'कमाई' की लाइन में—इस से ज्यादा नहीं बढ़ाना चाहती थी। 'प्रह्लाद' नाटक का –'लोभीलाल' नहीं—'प्रमोद'—बनाने के रास्ते पर ले जा रही थी। जो निम्न घटना से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है—

श्री केदारनाथजी भार्गव, बम्बई-शेयर-बाज़ार के क़ाबिल और ईमानदार 'सब ब्रोकर' हैं। उनके पिताजी से मेरी बड़ी मित्रता रही है, मुलाक़ात तो उनके प्रपिता तक से थी। एक दिन

बरेली आकर उन्होंने मुझे समझाया कि रुपया—घर में—या बैंक में न रखकर 'कम्पनियों के शेयर्स' में इन्वेस्ट करो। मैं ने उनकी बात मान ली—और उन्हीं को यह काम—पूर्ण विश्वास के साथ—सौंप दिया। वे शेयर्स ख़रीद लेते थे—और—भाव बढ़ने पर बेच देते थे। मुझे उस धन्धे से कुछ समय तक बराबर 'लाभ' ही होता रहा।

एक दिन मेरी स्त्री ने मुझ से कहा उसकी-"बहन (अनन्दा) का पुत्र (भगवतकिशोर) जो अर्से से—साधुओं में रमकर—घर से लापता था—पता चला है कि आजकल 'बड़ौदा' है। तुम स्वयं जाकर उसे ले आओ। तुम जाओगे तो वह तुम्हारे प्रभाव से—तुम्हारे साथ आजाएगा। उसकी माँ उसके वियोग में आधी रह गई है।" 'नेक' काम समझ कर मैं उसी रात—बरेली से बड़ौदा चल पड़ा। बड़ौदा में वह नहीं मिला तो अंकलेश्वर गया, सूरत गया, कई गाँवों में भी खोज की,—नहीं मिला। कई दिन लग गए मुझे। आराम करने के विचार से बम्बई—'केदारनाथ जी' के यहाँ (शान्ताक्रूज़) चला गया। केदारनाथजी से जब मैंने कहा—कई दिन ख़राब हो गए—कई सौ रुपए खर्च हो गए—पर 'भगवतकिशोर' नहीं ही मिला। तो वे बोले कई सौ रुपए तो कई मिनट ही में दिलाए देता हूँ। उन दिनों 'टाटा डिफ़र्ड' की तेज़ी चल रही थी—उस रोज़ भाव २३००) का था। केदारनाथ जी ने २ शेयर्स उसी भाव में ख़रीद लिए। दिन के बारह बजे शेयर बाज़ार खुलता था और दो बजे

बन्द हो जाता था। दो घण्टे ही में बाज़ार नीचा जाने के कारण दो डिफ़र्ड उन्हों ने और ख़रीदे;—५ डाइंग के शेयर्स की भी ख़रीदारी की। बाज़ार बन्द होने पर ५—७ सौ का घाटा था। वे बोले – कल ठीक हो जायगा। ठीक होना तो क्या १०—१२ सौ का घाटा दूसरे दिन दीखा। मैं तो तब रात की गाड़ी से बरेली को चल दिया। केदारनाथजी ने वे शेयर्स छोड़े ही नहीं; और बढ़ा दिए। बरेली में मुझे सूचना मिली कि घाटा ४—५ हज़ार तक है। मैं तब 'नेपाल' जा रहा था—अपनी 'कथावाचस्पति' की पदवी की सनद लेने और मेडल लेने। लौटा तो घाटा २०—२२ हज़ार तक पहुँच चुका था। महीने के वायदे के सौदे होते थे—उसकी तारीख़ आगई थी। आख़िर रुपए भेजने पड़े। रुपए भेजे थे—बरेली कार्पोरेशन बैंक द्वारा। उक्त बैङ्क के मैनेजिङ्ग डाइरेक्टर श्रीसतीशकुमार कपूर को जब यह मालूम हुआ तो उन्हें बड़ा खेद हुआ। मुझसे कहा—"आपकी यह लाइन नहीं है। 'केदारनाथजी' को लिख दीजिए कि आइन्दा वे मुझ से (सतीश से) राय मिलाकर ले-बेंच करें।" यहाँ यह लिखने की आवश्यकता ही नहीं कि 'राधेश्याम प्रेस' में रहने के कारण 'सतीश' की मुझ पर 'श्रद्धा' और मेरा 'सतीश' के प्रति 'स्नेह' बहुत ही बढ़ा हुआ था। सतीश की—बड़ी लगन के साथ—सच्ची और उचित देखरेख होने पर भी – "मर्ज़ बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की"—लाखों पर मामला पहुँच गया। यह वह ज़माना था—जब 'टाटा डिफ़र्ड' २३००)

के भाव से गिर कर ८००) तक आ चुका था। मेरे घर के—बैङ्क के—सब रुपए ख़त्म होगए तो 'क़र्ज़' लेना पड़ा। इतना 'क़र्ज़' कि चुकाने पर मेरा कारबार क्या, जायदाद क्या, ज़ेवर क्या, घर का एक बर्तन भी न बचे। तब मैं एक दिन बहुत उदास हुआ। दो पहर के खाने को मना कर दिया। अचानक घनश्याम (मेरा ज्येष्ठ पुत्र) मेरे पास आया। उसे यह वहम हुआ कि पिता जी का कहीं 'हार्ट फ़ेल' न होजाय! उसने कहा "अभी बम्बई चलिए मैं भी चलूँगा—वहीं रहकर इसकी बारीकियाँ समझेंगे—जब सर्वनाश है, तो और सही। "इस पार या उस पार।" मोटर (शेवरलेट) घर में थी ही। दो घण्टे के अन्दर मैं, घनश्याम, घनश्याम की बहू, घनश्याम की बहू का गोद का लड़का (विश्वनाथ) और छदम्मीलाल नौकर रवाना हो गए।

इन्दौर के आगे नर्मदा का एक घाट है—खलघाट। वहाँ पहुँचने पर देखा—इतना 'अहला' आया हुआ है कि गाँव तक डूबा हुआ है। नदी के पुल पर कोई७० फुट पानी चल रहा था। बम्बई जाने का और कोई रास्ता ही न था। बस वहीं एक 'स्कूल' में रह गए। उन ३–४ दिनों तक मैंने तो एक अधडूबे शिव-मन्दिर में-'ॐ नमः शिवाय' हीं जपा है। यह बात सन्१९३९ की अगस्त की पिछली और सितम्बर की शुरू की तारीख़ों की है। रास्ता खुलने पर हमारी मोटर जब रात के दो बजे केदारनाथजी के यहाँ पहुँची तो मिलते ही उन्होंने डिफ़र्ड का भाव १५–१६

सौ बताया। हमारा एवरेज १४ सौ का था। कारण यह बताया कि इङ्गलैण्ड के प्रधान मन्त्री 'चेम्बरलेन' ने—जर्मनी से 'वार' 'डिक्लेयर' कर दी है। यह भी बताया कि आपके सब शेयर्स हमने खड़े रक्खे हैं—बेचे नहीं हैं। 'सतीश' ने भी बरेली से कोई 'तार' या 'फ़ोन' बेचने का नहीं किया है। हिसाब लगाने पर सब पिछला रुपया—क़र्ज़ा भी—निकलता था—और कुछ बच भी रहता था।

केदारनाथ जी मेरे बड़े सिर हुए—कि शेयर्स मत निकालो। यही तो कमाई का वक्त शुरू हुआ है। पर मैं बनिये का बेटा कब था; ब्राह्मणपुत्र था—एक ही दो रोज़ में सब बेच बाच कर नफ़े के साथ वहाँ से चल दिया। कलकत्ते के भी कितने ही शेयर्स सतीशबाबू ने लेकर मेरे ही नाम पर चढ़वा रक्खे थे। जूट, बिजली, कोयला, लोहा आदि के। उन्हों ने भी यही कहा इन्हें न बेचो। पर मैंने वे भी बेच ही डाले। अपने उपरोक्त दोनों प्यारों का कहना मान कर—मैं उस धन्धे में अभी तक लगा रहता—तो निश्चय ही बरेली का बहुत बड़ा धनवान व्यक्ति आज होता। पर—प्रकृति को यह स्वीकार नहीं था। इसी लिए—प्रकृति के बहाव का वर्णन करने ही के लिए—मैंने यह घटना यहाँ लिखी है।

इसके बाद तो मैंने 'नरसी की हुंडी' नाम वाली एक कथा लिखी और वह अपनी कथा के प्रेमियों को ख़ूब उमंग और उत्साह से सुनाई। 'दौलत' पैदा करने से अब मुझे 'वैराग्य' सा

हो चला था। इसकी हानि और इसका लाभ, इसका रुलाना और इसका हँसाना—दोनों ही मानव को 'आत्मानन्द' से अत्यन्त दूर पटक देते हैं। इन्हीं विचारों से ओतप्रोत होकर मैंने यह तय किया कि—"अब अपनी 'कथा' पर चढ़ावा नहीं चढ़वाऊँगा। स्त्री से भी अब—'पति-पत्नी वाला सांसारिक सम्बन्ध' नहीं रक्खूँगा। दो पुत्र—बड़े हो चुके हैं—अवस्था अपनी ५०वर्ष की हो चुकी है। अब ऐसा ही करूगा। अधिक समय 'जन सेवा' या 'राम भजन' ही में लगाऊँगा। तन से नहीं तो मन से—'साधुजीवन' बनाकर—उसी जीवन में अपने को रँगूँगा। मेरी स्त्री—'भजनपूजन' की पूरी अनुरागनी थी ही। उसने भी यह सहर्ष स्वीकार कर लिया—तब हम दोनों ने महामना श्रीप० मदनमोहन मालवीयजी को लाचार कर दिया कि वे हमें 'मन्त्र-दीक्षा' दें। महामना को गुरुदेव बनाकर उन्हीं की आज्ञा से—सम्पूर्ण बिहार—आधा राजस्थान—कुछ मालवा और कुछ उत्तर प्रदेश—हम 'निष्काम भाव' से 'जन सेवा' के लिए बराबर विचरे हैं। 'मन्त्र-दीक्षा' के बाद—सब से पहले काशी-नागरी प्रचारिणी सभा की सेवा में लगे। उसके—उस वर्ष के वार्षिकोत्सव का केवल सभापतित्व ही नहीं किया—बल्कि श्री रामनारायण मिश्र के साथ पंजाब के कई स्थानों में जाकर 'हिन्दी प्रचार' किया। हैदराबाद भी गए। कैसे प्यारे बीते हैं वे बरस। आज भी उन दिनों का स्मरण आत्मा का उल्लास है।

———

मेरा-नाटक-काल

प्रौढ़ावस्था

इस अध्याय में—मेरे ५१वें वर्ष से शुरू होकर—६५ वर्ष तक की अवस्था के हालात हैं, सन् १९४१ ई० से सन् १९५५ ई० तक के।

निश्चय ही इस अध्याय के शुरू के कई बरस—मेरे जीवन के सब से अच्छे बरस बीते हैं—इतने अच्छे बरस शायद ज़िन्दगी भर में नहीं मिले। स्वास्थ्य भी उत्तम रहा, और आत्मिक शान्ति की ख़ुराक भी यथेष्ट मिलती रही। ख़ूब गंगा नहाया, ख़ूब 'सन्त-सेवा' की। बिना चढ़ावे की कथायें कहने में जो आनन्द मिला—उसकी तुलना—उस लालची कथावाचक की दृष्टि से हो ही नहीं सकती है—जो यह देखा करता था—कि 'थाली' में क्या चढ़ावा चढ़ रहा है। 'ब्राह्मण जीविका' बुरी नहीं है—बहुत ही अच्छी है, इस जीविका में—भोजन, वस्त्र, बर्तन, ज़ेवर, नक़दी, स्थान, और सेवकों की सेवा तथा सम्मान, सभी कुछ मिलता है; पर मिलता तभी है—जब ब्राह्मण—ब्राह्मणत्व को निभाता हुआ—ब्राह्मणपन की रक्षा करता हुआ—'ब्राह्मण जीविका' ही की दृष्टि से उसे करता है।

अरे प्यारो, हमारे दैनिक जीवन में सादगी और सन्तोष हो—तो 'खर्च' की कमी है ही कहाँ? यह तो हम—पान, सिगरेट, तेल, कंघा, दूकानों की चाटें और सिनेमा आदि के व्यसनों में अपने को 'खर्चीला' बना कर—'खर्च' के लिए 'चिल्लाया' करते हैं। और फिर इन 'बेहूदगियों' में स्वास्थ्य का संहार करके डाक्टरों-वैद्यों के 'नुस्खों' की 'बला' सिर पर लिया करते हैं। अन्यथा 'ब्राह्मण जीविका' की 'सादगी' में—न 'अशान्ति' है न 'हायहाय !'—पर है यह तभी—जब-ब्राह्मण - 'ब्राह्मण जीविका' को—केवल साधारण दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही के लिए करता है, अन्यथा खर्चीले व्यसनों में चल पड़ा तो निश्चय उसका 'पतन' है। । यही कारण है कि कितने ही पाधा, पुरोहित, कथावाचक, उपदेशक, जनता की दृष्टि में गिरते जारहे हैं। तथा यही हालत रही—तो और भी गिरेंगे।

श्रीनित्यानन्दजी बापजी के अतिरिक्त श्रीकरपात्रीजी के धर्मसंघ—महोत्सवों में भी मैं कितनी ही बार सम्मिलित हुआ हूँ। सन् १९४४ ई० में उन्हों ने जब दिल्ली में 'यज्ञ' कराया था—तब भी वहाँ मेरी पूरी हाजिरी रही है। दिल्ली में तब 'माणिकलाल' (मारवाड़ी) की 'शाहजहाँ थिएट्रिकल' कम्पनी अपने खेल खेल रही थी—इस कम्पनी में डाइरेक्टर था मेरा शिष्य चौबे रामकृष्ण। चौबे मेरे सर हुआ कि—"सती पार्वती' नाटक छप तो चुका ही है—पर 'स्टेज' अभी तक कहीं

नहीं हुआ है। आप इजाज़त दे दें तो इस कम्पनी (शाहजहाँ) में खिलवा दिया जाय।" मैं ने कहा—"मेरी अब इस लाइन में दिलचस्पी नहीं है, साधुजीवन चल रहा है।" उसने कहा—"तो आप सिर्फ़ इजाज़त दे दें।" वह 'माणिकलाल' को भी मेरे पास (वहीं यज्ञ-कैम्प में) ले आया। आख़िर मेरे मुँह से निकल गया कि—'इजाज़त देता हूँ'।

उन दिनों दिल्ली में मुझे ज्यादा ही रहना पड़ा। रहने का कारण था मेरे आत्मीय प्रेमी लाला धूमीलाल (मालिक फ़र्म डी० एल० गोविन्दप्रसाद चाँदनी चौक) का मुझ से बढ़ा हुआ प्रेम। मैं (सपत्नीक) तब 'बद्रीनारायण' जाने की सोचने लगा। बम्बई से श्रीकेदारनाथ भार्गव (शेयर बाज़ार वाले) भी आगए। उन्हों ने भी तब (सपत्नीक) इस यात्रा में साथ चलने का इरादा कर लिया। फिर तो लाला धूमीलाल ने भी इरादा किया—उनके मित्रों ने भी। धीरे धीरे सौ के लगभग यात्री तैयार हो गए। मुझे तब यह ध्यान हुआ कि इस यात्रा का मेरा ख़र्च कहीं 'धूमीलाल' अपनी जेब से न करें। यह स्वभाव मेरा सदा से रहा है कि मैंने कभी भी यह पसन्द नहीं किया है—कि ख़ाहमख़्वाह मेरे प्रेमी मेरी सेवा में अपना रुपया ख़र्च करें। 'दान' माँगने की वृत्ति का तो इस जगह प्रश्न ही नहीं उठता; जिस वृत्ति से मुझे सदा सङ्कोच और घृणा सी रही है। सर्वदा—सारी उम्र—मेहनत ही की कमाई खाई है—फिर भगवान् ने इतना दिया भी है कि—जी भर कर ख़र्च

करने के बाद भी—बटुआ ख़ाली नहीं रहता है—आज तक। आख़िर मैंने बरेली—अपने पुत्र घनश्याम को—कुछ रुपए के लिए लिखा—क्योंकि दो डाँडियाँ हरिद्वार से करनी ज़रूरी थीं—अपने लिए और अपनी धर्मपत्नी को। और फ़ी डाँडी (सन् १९४४ में) हरिद्वार से बद्रीनारायण को (आने जाने को) एक हज़ार रुपए से कम में नहीं होती थी; छै कुलियों की।

'सती पार्वती' नाटक जब स्टेज हुआ—तो देखने मैं भी गया। 'धूमीलाल' ने तो उस रात क़रीब ५००) के टिकट ख़रीद डाले—अपने तमाम रिश्तेदारों और मित्रों को यह नाटक दिखाया। उस रात तो 'तिल भर' भी जगह ख़ाली न रहने—की कहावत चरितार्थ हो रही थी। नाटक देखकर इस नतीजे पर तो मैं भी पहुँचा कि 'स्टेज' की दृष्टि से मेरा यह नाटक भी 'सफल' है। चौबे रामकृष्ण का 'शिव' का पार्ट अच्छा जाना ही चाहिए था; पार्ट 'दक्ष' का भी अच्छा था। 'सती पार्वती' बनने वाली किसी ऐक्ट्रेस ने भी अपना काम अच्छा ही किया। 'माणिकलाल' ने नारद का पार्ट किया था—'कविराय' का पार्ट करने वाला 'हिंदी' नहीं जानता था—फिर भी कुछ निभा गया। 'माणिकलाल' 'मैडन थिएटर्स' में रहे हैं—'कुशल नट' हैं। फ़्री हैं। अपना पार्ट डूब कर करते हैं। गाते भी ठीक हैं। समझदार भी हैं। मेरा उनसे प्रेम बराबर रहा है।

दिल्ली के श्रीसत्यदेव विद्यालंकार (प्रसिद्ध लेखक तथा भूतपूर्व सम्पादक 'हिन्दुस्तान'—'विश्वमित्र' आदि) से मेरा 'कलकत्ते' ही से प्रेम होगया था—उनकी फ़र्माइश पर मैंने एक लेख 'विश्वमित्र' के 'जयन्ती अंक' के लिए लिख दिया था—'हिन्दी नाट्यसाहित्य की प्रगति' (सन् १९१५ से १९४० तक का इतिहास); 'बद्रीनाथ की यात्रा' में एक चट्टी पर—'हुडक' उठी कि कई दिनों से कोई 'अख़बार' नहीं पढ़ा है। उस 'चट्टी' में एक 'डाकख़ाना' भी था। 'डाक बाबू' से मैं मिला, कहा—कोई अख़बार ज़रा देर को पढ़ने के लिए देसकते हैं ? उन्हों ने आई हुई 'डाक' में से – 'वेंङ्कटेश्वर समाचार' मुझे दे दिया। वह उनके किसी मित्र के नाम आया था। मैं ने जैसे ही उसे खोला—मेरा वही 'दैनिक विश्वमित्र के जयन्ती अङ्क वाला' लेख उसमें दिखाई दिया—जिसे 'वेंङ्कटेश्वर समाचार' के सम्पादक ने ज्यों का त्यों 'उद्धृत' किया था। मुझे वह लेख देखकर इतनी ख़ुशी तो अवश्य हुई कि मेरा यह लेख 'पसन्द' किया गया—तभी तो दूसरे पत्रों में उ'द्धृत' हुआ। यह एक 'आकस्मिक बात' थी—जो अब तक याद है।

'बद्रीनाथ की हमारी यात्रा' बहुत ही सुखदायी, शान्तिदाता, एवं आनन्दवाली रही, जिसके विशेष वर्णन का स्थान—यह पुस्तक नहीं है। एक ही वाक्य में—उसे समाप्त करता हूँ—कि—'जिन्दगी के बेहतरीन थे वे दिन।'

लौटकर जब बरेली आया—तो 'घनश्याम' को बीमार पाया। उसे 'डायाबिटीज़' हो गई था—उस हालत में जाँघ में 'फोड़ा' निकला—जो देर में अच्छा हुआ। बरेली के एक नामी 'जर्राह' ने—'देर आयद, दुरुस्त आयद' के अनुसार उसे ठीक कर दिया;—पर बड़े कष्ट में रहा उन दिनों 'घनश्याम'।

'यात्रा' के बाद का जो एक 'विशाल भण्डारा' बरेली में हुआ—उस पर चौबे रामकृष्ण भी एक दिन को 'देहरादून' से 'बरेली' आया था। उसने बताया कि 'देहरादून' में भी 'सती पार्वती' नाटक ख़ूब चला।

इसके बाद मेरा भ्रमण फिर 'साधुसमाज' के 'उत्सवों' में शुरू हो गया। श्रीस्वामी शुकदेवानन्दजी से भी प्रेम हुआ; शाहजहाँपुर, मैंनपुरी, फ़र्रुख़ाबाद, कानपुर, झरिया, फ़ीरोज़ाबाद, बाह, आगरा आदि स्थानों में 'धर्मप्रचार' डटकर किया।

इसी सिलसिले में राँची (बिहार) भी गया था। तब मेरे साथ बरेली के वकील बाबू चन्द्रनारायण सक्सेना भी थे। चन्द्रनारायणजी से मेरा शुरू से ही स्नेह रहा है—इनके पिता बाबू प्रेमनारायण सक्सेना तो मेरे मित्र ही नहीं थे—कई एक 'जनसेवा कार्यों' में तगड़े साथी भी थे। चन्द्रनारायण ने कई वर्ष तक 'राधेश्याम प्रेस' की भी सेवा की है। 'नाटक' से उन्हें 'शौक़' है। 'कथायें' भी लिखने का चाव है। सीखते भी रहे हैं मुझसे कुछ। अब आप 'आर्य अनाथालय बरेली' के प्रधान हैं। वहीं एक रङ्गमंच—'कलामन्दिर' के नाम से आजकल बनवा

रहे हैं। जिस में स्वामी दयानन्दजी महाराज की जीवनी से सम्बन्धित—दो नाटक--'गुरुधाम' और 'कर्णवास'--लिख कर खिलवा भी चुके हैं।

राँची में 'श्रीराम और भरत' के सम्बन्ध में मेरा एक व्याख्यान बड़ा तगड़ा हुआ। वहाँ के प्रसिद्ध फर्म 'चुन्नीलाल गणपतिराम' के एक मालिक 'राधाबाबू' इतने प्रभावित हुए कि उस रात उन्हों ने तीन बजा दिए–इस विचार में कि 'रामायण की कथा कई भागों में—फ़िल्म में—निकाली जाए।' वे 'भरतमिलाप' का फ़िल्म देख चुके थे—चाहते थे और भी बारीकी तथा वास्तविकता के साथ—रामायण के चरित्रों के चित्र निकाले जायें। इस काम के लिए उन्हें मैं ही ठीक जँच रहा था। पर मैं ने रात के तीन बजे तक उनका प्रस्ताव स्वीकार ही नहीं किया।

सुबह को चन्द्रनारायण ने मुझ से कहा—"आप क्यों नहीं स्वीकार करते हैं ? आपकी रामायण द्वारा जितना 'राम नाम' का प्रचार हुआ है—इन रामायणा फ़िल्मों के द्वारा उस से भी अधिक होगा–अगर आपके द्वारा यह निकलें।" मैं ने कहा—"चन्द्रनारायण, मुझे दौलत की दुनिया से मोहब्बत कम होती जा रही है—यह बड़े झगड़े की चीज़ है—इस 'माया' में लिप्त होनेवाला जीव-'सच्ची आत्मशान्ति' प्राप्त कर ही नहीं सकता। 'कथाओं' का चढ़ावा तो छोड़ ही चुका हूँ—अब 'रामायण के फ़िल्म' निकाल कर—दूसरे रूप में—वही 'कमाई' करूँ—

यह किसी प्रकार भी उचित नहीं है।" चन्द्रनारायण ने फिर कहा—"तो इस 'फ़िल्मी' कमाई को 'दान' में लगादें। बड़ी रक़म हाथ में आएगी—तो बड़े से बड़ा 'धर्मादा' हो सकता है।" मैं चुप रहा;—कई घण्टे सोचता रहा—अन्त में—दोपहर बाद मैंने चन्द्रनारायण से कहा—"अच्छा, राधा बाबू (राधाकृष्ण बुधिया) भी ऐसी तबीयत बनालें—कि उनके रुपए लौट आने पर—वे भी 'मुनाफ़ा' सब का सब दान करें—तो मैं तैयार हो जाऊँगा।" उसी शाम को चन्द्रनारायण ने 'राधा बाबू' से यह बात घोटी—वे राज़ी होगए—सहर्ष और सोत्साह राज़ी होगए। उनका नाम यहाँ 'आदर' के साथ लिखते हुए लेखनी भी अपने लिए सराहती है। कम मिलेंगे ऐसे धनवान् देश में। रुपया खर्च करने का मुझे ही पूर्ण अधिकार उन्हों ने दे दिया। 'मुनाफ़े की रक़म' आधी आधी 'दान' अपनी अपनी इच्छानुसार हम दोनों करेंगे—यह 'शर्तनामा' स्टाम्प पर लिखकर रजिस्ट्री करादी। इसके बाद वे रुपया जुटाने के कार्य में लगे—और मैं 'वातावरण' समझने के लिए बम्बई रवाना हुआ। 'राधा बाबू' का—और मेरा भी ख़याल यह था कि डेढ़-दो लाख में पहला भाग 'रामजन्म' निकल जायगा। पर बम्बई पहुँच कर—तो मैं ने और ही रँग देखा। इस यात्रा में मेरे साथ मेरा ज्येष्ठ पुत्र घनश्याम भी था। श्रीपृथ्वीराज कपूर से मिले। बड़े ही प्रेम, सौजन्य और आदर से वे मिले, अपने प्रसिद्ध पुत्र 'राजकपूर' से भी मिलाया। 'पार्ट' करते

की भी स्वीकृति दी, पर सारे ख़र्च का वहाँ अन्दाज़ लगाया तो ६-७ लाख का तख़मीना था। श्रीकेदार शर्मा से भी मिले—वहाँ एक लाख कम का अन्दाज़ा बैठा। प्रसिद्ध डायरेक्टर विजयभट्ट से मिले—तो वहाँ ४.५ लाख का आँकड़ा बैठता था। डाइरेक्टर साहब के नाम का 'गुडविल' भी उसमें शामिल था। सब से ज़्यादा हमदर्दी स्वर्गीय श्रीचन्द्रमोहन ने दिखाई, 'रावण' का पार्ट करने की भी स्वीकृति दी और अपना पारिश्रमिक फ़िल्म रिलीज़ हो जाने के बाद ले लेने का 'वचन' भी दिया। यह भी कहा कि 'श्रीचन्दूलाल शाह'के स्टूडियो में अपने असर से सस्ते में निकलवा देंगे। फिर भी हाथ में ४ लाख रुपया रखकर ही कार्य आरम्भ करना चाहिए। मैं ने यह सब 'राधा बाबू' को लिख दिया। उन्हों ने राय दी—'अच्छा, कलकत्ते का 'वातावरण' और समझा जाए। सम्भव है वहाँ दो लाख में काम हो जाए।' इस राय से इत्तिफ़ाक़ करके हम ने बम्बई छोड़ी।

यहाँ यह भी लिख दूँ—कि हिन्दी जगत के प्रसिद्ध सम्पादक श्रीसत्यदेव विद्यालंकार जी को भी मैं इस यात्रा में बम्बई ले गया था। मैं ने उन्हें क़रीब क़रीब तैयार कर लिया था—कि इस नई कम्पनी की 'स्टोरियाँ' और 'डायलाग' लिखने ही में वे सहायक न रहें बल्कि पब्लिसिटी भी अपने हाथ में लें और यह भी ध्यान रक्खें कि इस कम्पनी का प्रत्येक 'चित्र'—'आदर्श' निकले।

यहीं पर 'ललित गोस्वामी' का भी ज़िक्र कर दूँ। 'माणिक लाल' की कम्पनी में 'ललित गोस्वामी' था। चौबे रामकृष्ण को यह अपना गुरु मानता था। चौबे ने मुझसे कहा—"गोस्वामी को अपने साथ ले जाओ, 'कथा-लेखक' भी बनाओ और 'नाटककार' भी।" मैं चौबे के कहने पर 'ललित' को—साथ ले आया। 'कथा लेखन' सिखाना तो शुरू कर ही दिया था—अब समय आया कि 'स्टोरी संवाद-लेखन' में भी लगाऊँ। 'ललित गोस्वामी' रचित और मेरी सम्पादित कई 'कथायें' 'राधेश्याम प्रेस' से प्रकाशित हुई हैं—'पार्वती मंगल'—'नरसी का भात'—'नारद मोह'—'सूरदास' और 'महाभारत सीरीज़ के कई अन्तिम भाग'। निःसन्देह ललित गोस्वामी ने 'कविता' की 'कला' को बहुत कुछ समझ लिया है। आजकल 'रेडियो' में उसके गीत ख़ूब चलते हैं। कई वर्ष से--बम्बई ही अधिकतर रह रहा है। 'फ़िल्मी' लाइन में 'काम' करने की उसे बड़ी उमंग है। ईश्वर उसे सफल प्रयास करे। वह भी मेरे साथ बम्बई के उस सफ़र में था।

बम्बई से लौटने पर 'घनश्याम' फिर बीमार हो गया। ख़ासा बीमार हो गया। उसकी बार बार की बीमारी ने मुझे प्रायः चिन्तित ही रक्खा है। मेरे दिल और दिमाग़ को ख़ास तौर पर कमज़ोर किया है।

उस की बीमारी ही के कारण—'फ़िल्मी कार्य के लिए'

कलकत्ते की यात्रा मैं ने कुछ समय को स्थगित करदी। फिर भी 'स्टोरी'(कथा) तो बन जाना ही चाहिए, कम से कम प्रथम भाग की। इस विचार से मैंने अपने बरसों के प्रेमी, हिन्दी संसार के प्रसिद्ध नाटककार और कहानी--तथा उपन्यासकार--रानीखेत के श्रीगोविन्दवल्लभ पन्त को भी बरेली बुलाकर रख लिया। आप निःसन्देह--सज्जनता की मूर्ति और--एक शब्द में लिखूँ तो--'सच्चे मनुष्य' हैं। ललित गोस्वामी के साथ-साथ -यह भी रामायण सम्वन्धी अनेकानेक ग्रन्थ पढ़के -उनमें से फ़िल्म सम्बन्धी विषय (टुकड़े) चुनने के कार्य में लगे। क्योंकि धारणा और उमंग यह थी कि 'पिक्चर' देखकर--फिर हमारे बालक-बालिकाओं को—कोई भी रामायण--विशेष रूप से--पढ़ने की आवश्यकता ही न रह जाय। सच्चा और शुद्ध 'राम-इतिहास' उनके दिल में और दिमाग़ में सदा के लिए बस जाय। साथ ही शंका भी कहीं न रहे--और फिर फ़िल्म की दृष्टि से 'मनोरंजक' भी रहे--जिस से 'आर्थिक हानि' भी न हो।

कुछ दिन बाद—भाई नरोत्तम व्यासजी को भी—मैंने बम्बई से इस 'गोष्ठी' में बुला लिया—वे कई 'पिक्चर' निकाल चुके थे, अनुभवी थे। उन्हों ने 'फ़िल्मी दृष्टि' से जो 'स्टोरी' तैयार की—उसमें 'नारदमोह' ही की प्रधानता थी—वही रस था;—'रामजन्म' का वर्णन नाममात्र था। उनकी राय में पहला भाग वही होना चाहिए था—चाहे 'नारदमोह'

के नाम ही से हो। 'फ़िल्मी ख़ूबियाँ' तो उनकी स्टोरी में थीं हीं। वे फिर बम्बई लौट गए—यह कहकर कि यदि यही 'कथा' निकाली जाय तो मैं फिर आजाऊँगा। अपनी लिखित 'नारद मोह' की कापी भी साथ ले गए। शायद और कहीं वह निकली हो; पर मेरी जानकारी में नहीं आई। घनश्याम की लम्बी बीमारी देख कर—व्यासजी ने राय दी कि—"पहले इसे 'अच्छा' करो तब 'फ़िल्मी शौक़' पूरा करना।" यह सन् १९४५ ई० को बातें हैं।

श्रीप० गयाप्रसादजी शास्त्री, 'श्रीहरि'—जो अर्से से हैदराबाद दक्षिण में रह रहे हैं—आयुर्वेद के अच्छे ज्ञाता होते हुए—अच्छे साहित्यिक भी हैं। अकस्मात्—मुझे एक 'धार्मिक समारोह' में जब हैदराबाद (दक्षिण) जाना पड़ा—तो उनसे भी इस 'फ़िल्मी आयोजन' की बात चली। उन्हों ने भी इस 'गोष्ठी' में सम्मिलित होने और कार्य करने की 'स्वीकृति' दी—तो मुझे 'हर्ष' हुआ। मैं ने उन से कहा—"शीघ्र ही मैं आपको बरेली बुलाऊँगा—आप तैयार रहें।"

मैं हैदराबाद से 'कोल्हापुर' चला गया। वहाँ मेरे एक परिचित (सत्यनारायण फ़िल्म के समय के) श्रीभालजी पेंढारकर रहते हैं। बड़े सज्जन, हिन्दुत्व की भावना से ओतप्रोत, कलाकार हैं। आपका 'स्टूडियो' भी है। 'प्रभाकर' स्टूडियो। आप से भी अपनी 'आयोजना' के सम्बन्ध में मैंने राय

मिलाई। बड़े उत्साह और आनन्द से उन्हों ने सलाह दी—"कोल्हापुर में भी यह 'फ़िल्म' निकल सकता है—पर—हिन्दी भाषाभाषी ऐक्टर तो बम्बई ही से बुलाने पड़ेंगे—उनका आने जाने का खर्च भी काफ़ी हो जायगा,—कुल खर्च का तख़मीना उनका भी छै-सात लाख था।

कोल्हापुर से मैं पूना गया, दादा साहब तोरणे (सरस्वती सिनेटोन वालों) से मिला, उन्होंने स्वयं साथ जाकर—'प्रभात कम्पनी' के 'श्री फ़तेहलाल' से मिलाया। वहाँ भी यह प्रसङ्ग ख़ूब घोटा गया, ख़र्च का अन्दाज़ उनका भी लगभग 'कोल्हापुर वालों' जैसा ही था।

मैंने सोचा—"रामायण फ़िल्म" के लिए—हिन्दी भाषा-भाषी ऐक्टरों के अतिरिक्त—'डाइरेक्टर' भी रामधुन में डूबा हुआ—हिन्दी-भाषाभाषी चाहिए। क्योंकि मेरी राय में "डाइरेक्टर के दिमाग़ में पहले फ़िल्म बन जाता है—और वह उसके रँग में डूब जाता है—तब उसी रङ्ग का 'फ़िल्म' वह बना पाता है"। मैं अपने इस फ़िल्म में 'मराठीपन' भी नहीं चाहता था। प्राचीन भारत की—अयोध्या—और अयोध्या के नरेश का—रङ्ग चाहता था। वही वेष, वही सीनरी, वही सभ्यता, और भाषा हिन्दी।

आख़िर फिर बम्बई आया। 'श्रीकेदार शर्मा' से मिला। श्री कन्हैयालाल चतुर्वेदी से मिला। कई औरों से भी मिला।

रायें सब की अच्छी मिलीं—पर कार्य प्रारम्भ होने का 'अथ' (श्रीगणेश) नहीं मिला।

बरेली जब लौटा तो 'घनश्याम' को रोग शय्या पर ही पाया, राँची से श्री राधाकृष्ण बुधिया (राधाबाबू) भी 'घनश्याम' को देखने बरेली आए। उन्हें—उसकी बीमारी और परेशानी से—स्वयं भी परेशानी हुई। फिर भी मेरी बम्बई आदि की यात्रा की बातें सुनकर—उन्हों ने राय दी—"एक बार कलकत्ता भी हो आओ, वहाँ हिन्दी भाषाभाषी अधिक मिलेंगे; सस्ते में भी शायद काम हो जाए।" यह सन् १९४६ के हालात हैं।

सन् १९४७ शुरू हो जाने के बाद—माघ मास में—मुझ में उमंग उठी कि पहले 'रामजन्म' की कहानी तो 'अपने मन की' बन जाय।—इस के लिए मैं ही क्यों न अपना सारा समय लगाकर परिश्रम करूँ। 'घनश्याम' की रुग्णावस्था भी आँखों से नहीं देखी जाती थी—आखिर ललित गोस्वामी को साथ लेकर—और आवश्यक पुस्तकें अपने असबाब में रख कर मैं गढ़मुक्तेश्वर (ब्रजहाल्ट) रवाना हो गया।

कई दिन तक गंगा नहाता रहा—और पुस्तकें पढ़ता रहा। इस खोज में लगा हुआ था—कि 'रामचरित्र' सब से पहले किसने कहा—और किस से कहा? अन्ततो गत्वा—एक सवेरे—'अध्यात्म रामायण' में एक श्लोक मिला—जिस में शंकरजी ने पार्वती से कहा है—'श्रीराम' ही ने मुझे अपना

'चरित्र' सुनाया है- वही मैं तुम्हें सुनाता हूँ। अर्थात् सब से पहले 'श्रीराम' ही ने अपनी 'आत्मकथा' अपने अनन्य मित्र 'शंकरजी' को सुनाई है—मैं फड़क उठा—'कथा' बनाने लगा। ८-दिन में ही वह पूरी हो गई। बरेली आकर बलराम (अपने कनिष्ठ पुत्र) और गोविन्दवल्लभ पन्त (रानीखेत निवासी हन्दी नाटककार) को तथा ललितमोहन गोस्वामी को पास बिठलाकर 'सम्वाद' भी पूरे कर लिए। चलो—एक काम से तो छुट्टी पाई। उसके पश्चात् उपरोक्त साथियों सहित सन् १९४७ के अप्रेल मास में 'कलकत्ता' रवाना हुआ। इस यात्रा में मैंने 'फ़िदाहुसैन' (न्यूअल्फ़्रेड के ऐक्टर) को भी साथ लिया। वह 'कलकत्ते में तब एक 'नाटक मण्डली' में डाइरेक्टर था। कलाकारों से पूर्ण परिचित था। कलकत्ते में 'श्रीबाबूलाल चोखाणी' भारत लक्ष्मी स्टूडियो) से मुलाक़ात हुई। पहले का परिचय भी था। उनकी राय—से 'पाँच' लाख में 'फ़िल्म' अच्छा निकल सकता था। उन्हों ने एक डाइरेक्टर का नाम बताया—'श्रीरामेश्वर शर्मा'। 'शर्माजी' से जब मुलाक़ात हुई तो निश्चय ही उनका प्रभाव मुझ पर बहुत पड़ा। अपने फ़िल्म के लिए - डाइरेक्टर—वे ही अधिक जंचे। हिन्दी, रामायण, रामरङ्ग—तीनों बातों की दृष्टि से भी। उन्हों ने अपने 'डाइरेक्शन' का एक चित्र— 'तपस्या' भी दिखाया जो उस समय तक रिलीज़ नहीं हुआ था। उसमें डाइरेक्शन की कला देखकर हम सब प्रभावित हुए।

मिलने को तो इस सिलसिले में—श्रीदेवकीकुमार बोस, श्रीयुत—लाहिड़ी, तथा 'काली फ़िल्म कम्पनी वालों' आदि से भी मिलना हुआ था—पर अन्त में यही राय क़ायम होती थी कि 'श्री रामेश्वर शर्मा' के डाइरेक्शन ही में अपना 'फ़िल्म' निकाला जाय। 'स्टूडियो' फिर कोई सा भी हो। 'भारतलक्ष्मी' ही हो। 'श्रीरामेश्वर शर्मा' ने—बड़ी किफ़ायत के साथ बजट' भी बनाया—जो तीन लाख का था। 'श्रीरामेश्वर शर्मा' हम लोगों के इतने विश्वासपात्र बन गए थे—कि एक दिन उनकी फ़र्माइश पर मैंने अपनी 'रामजन्म' की पूरी स्टोरी सम्वाद सहित) उन्हें सुना डाली। अन्यथा—इस लाइन में—पूरी स्टोरी—(सम्बाद सहित) सुनाई नहीं जाती है; इस 'वहम' के कारण कि—सुनने वाला उस 'सब्जैक्ट' को उड़ा न ले जाए। पर 'श्रीरामेश्वर शर्मा' से तो अब निकट का सम्बन्ध हो चुका था। अन्त में यह राय क़ायम हुई कि अब 'श्रीराधाबाबू' को--इस निर्णय से अवगत कराया जाय—और रुपया—तथा उसके साथ—जिन आदमियों को भी वे अपनी ओर से इसमें लगाना चाहें—उनका प्रवन्ध उनसे कहकर—कराया जाय।

'कलकत्ता-प्रवास' ही में—अचानक एक रोज़—मेरी खाँसी इतनी उछली कि बन्द ही न हुई—थूकने पर—कफ़ के साथ 'ख़ून' भी निकला। अब तो यह 'दौरे' थोड़ी थोड़ी देर बाद पड़ने लगे। 'बलराम' को भी चिन्ता हुई। मुझे भी 'न्यूअल्फ़्रेड'

के ज़माने की अपनी हालत याद आगई। अगले ही दिन वहाँ (कलकत्ते में) 'हिन्दू-मुस्लिम' झगड़ा भी हो गया। उस रात— 'फ़िदाहुसैन' हम लोगों ही के साथ (प्राणरक्षा के ख्याल से) रहा। परिणाम—यह हुआ कि दूसरी रात ही को—हम सब बरेली रवाना हो गए।

राँची से श्रीराधाबाबू के भेजे हुए—'श्रीसुबोध मित्र'— बरेली आचुके थे—कहानियाँ तथा लेखादि लिखने का उन्हें भी बड़ा उत्साह था। इधर हैदराबाद से श्री गयाप्रसादजी शास्त्री 'श्रीहरि' भी बरेली आए थे। अब पूरा 'जमाव' जम गया था। आशा थी काम शुरू हो जाएगा—इतने में घनश्याम फिर सख्त बीमार पड़ा—मैं भी अपनी 'ख़ूनी खाँसी' की 'प्राकृतिक चिकित्सा' (टब स्नान और बिजली के इलाज) में लगा। श्रीगयाप्रसादजी आए थे—'फ़िल्म' के कार्य के लिए—और लग गए 'घनश्याम की चिकित्सा में'।

बरेली के डाक्टर पन्त (रिटायर्ड सिविल सर्जन) और प्रसिद्ध वैद्य श्रीजयदेव जी ने भी कई महीनों तक देखरेख और चिकित्सा में अपनी पूरी शक्ति लगाई। बाहर से भी विशेषज्ञ आए। घनश्याम की 'डायाबिटीज़' में आने वाली शुगर के— बाद—'एल्ब्यूमिन' और फिर 'एसीटोन' आदि आने के कारण- तथा कमज़ोरी में मन्दाग्नि, संग्रहणी आदि होजाने के कारण— सब इसी परिणाम पर पहुँच रहे थे कि 'पेट की मेशीन ही निकम्मी हो रही है।'

मेरी स्त्री और मैं—इसी दुःख में—आँखों से उसकी यह तक़लीफ़ न देखने के कारण भी—फिर मेरी अच्छी न होने वाली—खाँसी की 'हुच-हुच' के कारण भी—गढ़मुक्तेश्वर-(ब्रजहाल्ट)—गंगातट पर आगए। वहाँ मेरी तपस्विनी स्त्री ने 'घनश्याम के जीवन के लिए' माला जपनी शुरू कर दीं। अचानक धौलपुर के बाबा रामदास भी गंगा पर आए—उनके आगे भी यह दुख रोया। वे भी बड़े दुखी हुए। बरेली आए। घनश्याम को देखा भी। पूजायें, अनुष्ठान, दान पुण्य, भी शुरू हुए। इतने में बरेली से एक नौकर गंगा पर आया कि घनश्याम की हालत ख़तरे में है, वह याद कर रहा है, पहली गाड़ी से चलिए। हम (दम्पति) फिर बरेली आगए। फिर दिन रात 'घनश्याम' पर ही ध्यान।

श्रीगयाप्रसाद शास्त्री से भी परामर्श हुआ—जब तक 'घनश्याम' अच्छा न हो—'फ़िल्मी कार्य' बन्द किया जाए। शास्त्री जी हैदराबाद लौट गए। सुबोध मिश्र राँची गए। ललित और पन्त जी आख़िर तक (बरेली ही) रहे।

सन् १९४७ ई० की १५ अगस्त आगई। 'घनश्याम' का इधर दुःख, उधर 'स्वराज्य' का हर्ष। एक सवेरे 'स्वराज्य' के हर्ष में 'घनश्याम' का दुःख घण्टे दो घण्टे को विस्मरण हो गया—और एक गीति बनाने बैठ गया। बापू (गाँधीजी) तब 'नोआखाली' चल पड़े थे। उन्हीं की प्रशंसा में वह 'गीत' लिखी थी।

आखिर पूरी 'गीत' लिखकर—बापू के नाम रजिस्ट्री पोस्ट से भेजकर ही—'दोपहर' को उस दिन 'घनश्याम' के कमरे में गया। वह गीति 'राधेश्याम गीतावली में छप चुकी है।—शुरू के बोल हैं—"जय जय नव भारत निर्माता।"

'घनश्याम' मुझे कितना चाहता था—यह बताने के लिए—उसकी बीमारी के दिनों ही की एक बात लिख देना काफ़ी है। मैं सुबह ही चाय (बेड टी) पीता रहा हूँ। एक सुबह 'घनश्याम की पत्नी' जब 'घनश्याम' को दवा पिलाने पहुँची तो उसने रोगशय्या पर लेटे लेटे ही पूछा—"पिताजी को चाय पहुँच गई ?" उसकी पत्नी ने कहा—"अभी नहीं"। वह तुरन्त बोला—'पहले उन्हें चाय भिजवाओ—फिर मेरे लिए दवा लेकर आना।'

आख़िर वह मनहूस ता० ३ अक्टूबर आगई—जिस दिन सुबह ही वह चल बसा। मुझे तो इतना ग़म बैठा कि अपने कमरे में भीतर से किवाड़ बन्द करके पड़ा रहा। दिन के दस बजे के क़रीब 'अर्थी' प्रेस में से उठी थी। 'आरामनाम सत्य है' की आवाज़ें मेरे कान में ज़रूर पहुँची थीं—सोचा—इस ही वक़्त यह 'राधेश्याम पुस्तकालय' में आकर बैठता था—ठीक इसी समय—'बड़े पुस्तकालय' में (भगवान् के यहाँ) जारहा है।

तीजा हो या दशवाँ, बरसी हो या चौबरसी, मैं उसकी मृत्यु के बाद—किसी ऐसे मौक़े पर—अपने दिल की कमज़ोरी के कारण सम्मिलित नहीं हुआ हूँ। बल्कि पूरे एक

वर्ष तक—बरेली की रामगंगा के तट—'चौबारी घाट' पर—छप्परों का एक मकान बनाकर अधिकतर रहा हूँ। 'मोटर' तो अपनी मैंने सन् १९४२ ही में बेच दी थी। इधर १४००) में एक ताँगा घोड़ा ख़रीद डाला—जो गंगा जाने और घर आने की सहूलियत के लिए था।

अचानक सुना कि डाइरेक्टर 'श्रीरामेश्वर शर्मा' का भी देहान्त हो गया,—अरे! यह ख़बर भी आई कि राँची के श्रीराधाकृष्ण बुधिया (राधा बाबू) भी 'शिवलोक' को पयान कर गए। सब ठाट ही पलट गया। राँची से श्रीमहावीरप्रसाद आए थे। उन से 'फ़िल्मी' वार्ता अन्तिम बार हुई। वार्ता क्या थी? वह 'फ़िल्मी, दौड़ धूप' की अन्त्येष्टि थी। योजना समाप्त। मामला ख़त्म। वास्तव में तो 'होनी' ही बलवान है। 'प्रकृति' का 'चक्कर' ही संसार का प्रधान संचालक है। वैसी ही मनुष्यों की बुद्धियाँ बन जाती हैं। वैसी ही घटनाएँ घटती हैं। ज्योतिषियों ने ग्रहों के हेरफेर द्वारा इस 'चाल' को पकड़ना चाहा है—पर पूरा नहीं पकड़ पाए हैं। एक पुराने कवि का दोहा—लिखकर ही अब यह अध्याय पूरा करता हूँ—

"अपनी चीती ना भई—प्रभु-चीती तत्काल।
जान चहत हे स्वर्ग को—भेज दए पाताल॥"

—:०:—

मेरा-नाटक-काल

वृद्धावस्था

मेरी धर्मपत्नी तो पुत्र (घनश्याम) के वियोग में- 'अन्धी' हो ही गई। सचमुच अन्धी हो गई। रोते रोते उसकी आँखों का पानी इतना उतरा कि जाली पड़ी और 'आपरेशन' की नौबत आई। मैं अन्धा तो नहीं हुआ, पर—किताब पढ़ने के लिए -चश्मा मेरी आँखों पर भी चढ़ गया। निश्चय ही बेटा 'आँखों की ज्योति' होता है :—

"बे पुत्र के हैं अन्धी, माता पिता की आँखें।"

यहाँ एक पिछली घटना लिखदूँ। इस 'बुद्धिवादी' काल में इस घटना के रूप को बहुत से भाई नहीं मानेंगे। मानने न मानने की बात के चक्कर में तो कभी कभी मैं भी पड़ जाता हूँ—पर हुआ ऐसा ही है--और मेरी पूरी जानकारी में—आँखों के सामने--हुआ है।

सन् १९०८ में--लखनऊ के रकाबगंज मोहल्ले में--'सिद्धनाथ महादेव' पर मैं कथा कह रहा था। उस अवसर पर मेरी माता, मेरे पिता भी थे. धर्मपत्नी भी थी,—किराए के एक 'मामूली मकान' में हम लोग रहते थे। मेरी 'धर्मपत्नी'

नित्य 'सिद्धनाथ महादेव' के पूजन को जाती थी—और विधिवत् पूजन करती थी। श्रावण का महीना था। पूरे चालीस दिन तक जब उसका पूजन आदि हो गया—तो एक दिन सुबह के १०-११ बजे हमारे मकान पर दो साधु आगए। गुरु और चेला। गुरु की आयु ८० वर्ष की होगी—और चेले की ५० वर्ष के लगभग। मेरे पिता ने उनका बड़ा मान किया। मेरी धर्मपत्नी ने रोटी बनाई और मेरी माता ने रोटी परोस कर उन्हें खिलाई। 'बहू' ने रोटी बड़ी स्वादिष्ट बनाई है—जब यह वाक्य 'बड़े साधु' (गुरु) ने कहा—तभी मेरी माता ने हाथ जोड़कर उनसे कहा—'बहू' के कोई 'सन्तान' नहीं है। एक दो बार 'गर्भ' रहा—पर वह जाता रहा। 'बड़े साधु' (गुरु) ने तुरन्त कहा—अब अवश्य 'सन्तान' होगी—और पुत्र ही होगा। 'छोटे साधु' (चेले) ने कहा—"एक नहीं; दो पुत्र होंगे।" दो तावीज़ उन्हों ने दिए और कहा—'बहू' सँभाल कर रक्खे। 'सन्तान' हो जाने के बाद यह 'तावीज़' नहीं रहेंगे—खो जायेंगे।

सन् १९१० में जब 'घनश्याम' हुआ—तो मैंने उन 'बड़े साधु' (गुरु) की .खूब खोज की; पर चलता फिरता सा पता यह लगा कि सन् १९०९ ईस्वी में उनका शरीर छूट गया। सन् १९१४ में जब 'बलराम' हो गया—और 'तावीज़' भी सचमुच खो गए—तब मैंने छोटे साधु (चेले) के पते भी बहुत लगाए—पर आजतक उनका भी पता नहीं लगा। लखनऊ

में उन दोनों के मुख से—"प्रसन्न, प्रसन्न" शब्द ही अधिकतर निकलता था—यह भी उन्होंने कहा था कि—'रिवाड़ी' के जङ्गलों में हम अधिकतर रहते हैं।

मुफ़स्सर 'धर्मपत्नी' का अन्धा रुदन न देखा गया। 'बलराम' के सुपुर्द मैंने यह काम किया कि 'अपनी माता' की 'आँखें' सीतापुर जाकर बनवाओ और मैं–जिसे अब 'राधेश्याम-भवन' काटने को दौड़ता था—जी बहलाने—'बम्बई' चल दिया। सबने अपनी अपनी दृष्टि और बुद्धि के अनुसार 'क़याफ़े' लगाये कि पण्डितजी फिर 'शेयर बाज़ार' में रुपया कमाने गये—या 'फ़िल्में लिखने' के कार्य में लगे;—पर असल बात तो वही थी कि मैं 'घनश्याम' के वियोग को भुलाने ही के लिए—बम्बई गया था। बम्बई में सबसे पहले 'श्रीमोदी' से अपने मन की यह सच्ची बात मैंने एक दिन कह दी थी। 'मोदीसाहब' ने वास्तव में मेरा बड़ा ही आदर मान किया है। अपनी 'झाँसी की रानी' में 'गीत' वे बिल्कुल नहीं रखना चाहते थे—पर मेरे कारण उन्हों ने मेरे 'गीत' रक्खे। यह ज़ुरूर है कि वे 'गीत' बैक-ग्राउण्ड में रक्खे—यदि 'पात्रों के होठों से' उन्हें गवा देते—तो 'ख़ूब चमकते'। उनकी 'चमक' का असर 'फ़िल्म' पर भी पड़ता। फिर भी—'ग्रामोफ़ोन रेकार्ड' तो उन गीतों के बने ही हैं। यह सब हुआ—मेरे और मोदी साहब के बीच—प्रेम के नाते या मित्रता की सूरत में। एक पेशेवर लेखक और एक पेशेवर कम्पनी के मालिक के नाते नहीं। इसका सब से बड़ा प्रमाण यह

है कि मैंने इस सेवा के बदले में- मोदी जी से—एक पैसा भी नहीं लिया है—और उनमें भी यह साहस नहीं हुआ है कि मुझसे कुछ ले लेने के लिए कह भी सकें। कैसा अच्छा सम्बन्ध रहा है हम दोनों का। मेरा जी भी ख़ूब बहला उन दिनों।

बम्बई के 'फ़िल्मी जगत' के कार्यकर्ताओं ने तो यही समझा था कि—'फ़िल्मी जगत' में काम करने ही के लिए पुराना नाटककार बम्बई-वासी - बना है, मेरे मित्रों ने भी कुछ ऐसा ही अनुमान लगाया था; पर वास्तविकता को तो मैं ही जानता था—या कुछ 'मोदी साहब' ने भी जान लिया था।

निश्चय ही असह्य थी---'घनश्याम-वियोग की वेदना', जिसके कारण बरेली का 'राधश्याम-भवन' तो मुझे बिल्कुल ही नहीं सुहा रहा था। वे बड़े बड़े कमरे और चौबारे -मानो— 'खा जाने को मुँह फाड़ते थे'। तभी तो पहले वर्ष . राम-गङ्गा' पर (बरेली में) झोंपड़ी बनवाकर जैसे तैसे गुज़ारा-- फिर भागीरथी गंगा (गढ़मुक्तेश्वर) पर 'नाव' बनवाकर उस में अधिकाँश समय काटा,--फिर 'बम्बई-वासी' हो गया।

बम्बई से लौटने का प्रधान कारण बना--'धर्मपत्नी' की बीमारी--और वह भी लम्बी बीमारी। अन्त में 'पत्नी वियोग' की दूसरी चोट जब लगी तो उसने मुझे इतना चुटीला कर दिया कि तब से मेरा स्वास्थ्य ही गड़बड़ रहने लगा।

अपनी ६५ वर्ष की अवस्था के बाद तो मैंने—जान ही नहीं लिया - मान भी लिया कि अब वृद्धावस्था प्रारम्भ हो गई।

जरा व्याधियाँ भी लग ही गईं। शायद और काम करता-- पर लाड़ लड़ाने वाले सभी साथी जब बिछुड़ गए—तो 'अकेलापन'—'सूनापन' के रूप में--मुझ पर छा गया, मुझे 'कोरा काग़ज़' बना दिया।

धर्मपत्नी, घनश्याम, अनन्दा बहन, बाबू छैलबिहारी कपूर, सतोशकुमार, माधोराम, राधेश्यामपाठक, लक्ष्मीनारायण वकील, इन सभी बरेलीवासियों का मेरे दिल में—'एक दिल' जैसा 'तार' था—वह 'तार' ही टूट गया, रह गया मुझपर— ख़ाली 'धड़कने वाला दिल' और घूमने वाला कमज़ोर दिमाग़।

इस अँधेरे में—सन्तों की कृपा से—या सत्शास्त्रों के अध्ययन से—जो एक हल्की सी—प्रकाशरेखा—(ज्ञान की) प्राप्त हो चुकी है—वही साथिनि है-उसी को साथ लिए— 'एकान्तवास' में दिन बीत रहे हैं—फिर चाहे-'राधेश्याम भवन'—के 'कथा हाल' के बराबर वाला-छोटा सा कमरा हो—या 'बाग़' की कोठी हो—या गढ़मुक्तेश्वर का 'ब्रिजहाल्ट' वाला घाट हो। इस वर्ष—सन् १९५६ की वर्षा और बाढ़ में तो गढ़मुक्तेश्वर (ब्रिजहाल्ट घाट) वाली 'बड़ी नाव' भी डूब गई। छोटी नाव (डोंगी) तो दो वर्ष पहले ही डूब चुकी थी। जब उपरोक्त सभी साथी चले गए तो 'नाव और डोंगी' भी क्यों न जाँय!—जानेवाली चीज़ तो जाती ही है। यह शरीर भी तो एक

दिन जाय ... । तो
उस अवि ... और
शरीर के ... क है।
इसी ... ते ही
शरीर में- ... और
पचतत्त्व ... —इस
रूप से ... ी'—
जीवात्म ... र वह
जीवात्मा ... है—
लिखता ... क' हूँ,
यह मेरा ... : बेटे
पोते हैं, ... , वह
मेरे नाव ... बुदबुदे
(बगूले ... ने के
कारण ... क़ायम
...) फूटा
हो गया। ...
तो जल ही जल है। फिर न वह रूप है न वह नाम और न
वह आस्तित्व। हाँ, जल अपने स्थान पर क़ायम है। इसी प्रकार
'अविनाशी शक्ति' (ब्रह्म) सत्य है, अमर है। उसी की जितनी
शक्ति जीवात्मा को मिल जाती है—उतना ही काम नर
शरीर में वह जीवात्मा कर जाता है और फिर अन्त में सत्य
स्वरूप एक अविनाशी ही रह जाता है। तब ?—मैंने यह किया

जरा व्याधियाँ भी लग ही गईं। शायद और काम करता--
नब बिछुड़ गए—तो
पर छा गया, मुझे

ाबू छैलबिहारी कपूर,
ऊ, लक्ष्मीनारायण
दिल में—'एक दिल'
रह गया मुझपर—
ूमने वाला कमज़ोर

ा—या सत्‌शास्त्रों के
ारेखा—(ज्ञान की)
को साथ लिए—
र चाहे –'राधेश्याम
–छोटा सा कमरा
रवर का 'ब्रिजहाल्ट'
ार्षा और बाढ़ में तो
नाव' भी डूब गई।
ब चुकी थी। जब
र डोंगी' भी क्यों न
जाँय!—जानेवाली चीज़ तो जाती ही है। यह शरीर भी तो एक

दिन जायगा। नाशवान् वस्तुओं से मोह ही कैसा? लगाव तो उस अविनाशी शक्ति से होना चाहिए— जो शरीर में भी है और शरीर के बाहर सर्वत्र—अणु अणु में—कण कण में व्यापक है।

इसी जगह अपना एक विचार भी लिख दूँ। अपने ही शरीर में—माया, जीव और ब्रह्म तीनों ही हैं। दश इन्द्री और पचतत्त्व निर्मित यह शरीर—माया ही का तो रूप है—इस रूप से सम्बन्ध होने पर 'ईश्वरअंश जीव अविनाशी'—जीवात्मा' कहलाता है। 'ईश्वरअंश' वाले ज्ञान को भूलकर वह जीवात्मा—अब अपने को शरीरधारी मानकर—समझता है—लिखता है—और बोलता है कि -मैं 'राधेश्याम कथावाचक' हूँ, यह मेरा 'राधेश्याम भवन' है, वह मेरा बाग़ है, यह मेरे बेटे पोते हैं, वह मेरे भाई भतीजे हैं, यह मेरी रामायण है, वह मेरे नाटक हैं। ठीक उसी प्रकार—जैसे जल में बुदबुदे (बगूले) हैं—जो जल ही में हैं—पर—रूप बदलने के कारण नाम भी बदल गया, अस्तित्व भी अलग क़ायम हो गया। पर वह कितने समय तक? बुदबुदा (बगूला) फूटा तो जल ही जल है। फिर न वह रूप है न वह नाम और न वह अस्तित्व। हाँ, जल अपने स्थान पर क़ायम है। इसी प्रकार 'अविनाशी शक्ति' (ब्रह्म) सत्य है, अमर है। उसी की जितनी शक्ति जीवात्मा को मिल जाती है—उतना ही काम नर शरीर में वह जीवात्मा कर जाता है और फिर अन्त में सत्य स्वरूप एक अविनाशी ही रह जाता है। तब?—मैंने यह किया

और मैंने वह किया — वाला अभिमान भी क्या—मिथ्याभिमान नहीं?—जीवात्मा जब अपने अविनाशी पद पर ध्यान देता है—तो न वह अभिमान रहता है न ममत्व। ऐसे ध्यान के समय 'एकान्त' आवश्यक है, और आवश्यक है—'सत्संग'। जिस की प्राप्ति भी उस अविनाशी ही की कृपा से होती है।

सुख और आनन्द यह दो वस्तुएँ अलग अलग हैं। सुख के संग सदैव दुःख लगा हुआ है। स्त्री, पुत्र, धन, धाम, यश आदि वस्तुयें - वाह्य रूप में—अवश्य सुख देने वाली हैं, पर उनकी प्राप्ति में और उनके भोग में आन्तरिक रूप से दुःख (संघर्ष) कहीं अधिक है। ज्यों ज्यों प्राणी उन वाह्य सुखों की प्राप्ति में बढ़ता है—त्यों त्यों उसका बन्धन भी बढ़ता जाता है—फँसाव मज़बूत होता जाता है। पर एक दिन ऐसा भी आता है—जब उन्ही साथियों के स्वार्थव्यवहार या दुर्व्यवहार या वियोग, विछोह, विनाश आदि की जब करारी टक्कर लगती है—तब सिहर उठते हैं। उस सिहरने के समय प्राणी को कुछ होश आता है—और तब वह सोचता है— कि मैं नाशवान वस्तुओं में क्यों फँसा? तब उसे दीखता है—कि इन—साथ न जाने वाली चीज़ों में मैंने उम्र क्यों खोदी? तब उसका अन्तःकरण पुकारता है। हाय—

'सब दिन गए विषय के हेत'

सन्तों ने तो इसका उपाय यह निश्चित किया है—कि 'परहित' में जीवन लगाओ। लेकिन स्त्री, पुत्र, धन, धाम में फँसा हुआ

प्राणी परहित में कैसे जीवन लगाए? उसे 'निज हित' (स्वार्थ) पूरा करने ही में—बरस पर बरस ही नहीं—सम्पूर्ण आयु बिता देनी पड़ती है। तब ? गुरुओं ने यह भी बताया कि अच्छा—'दान पुण्य' करते रहो। पर—'दान पुण्य' तो तब हो—जब अपनी 'लालसाओं की पूर्ति' से धन बचे। फिर सम्बन्धी-समुदाय भी 'दान पुण्य' करने कब देता है? वह तो कहता है—'पहले हमें दीजिए'। आखिर—समझदारों ने यह मार्ग बताया कि 'विवाह' ही मत करो, या सन्तान-समर्थ हो जाने पर घर छोड़ दो, 'विरक्त' हो जाओ। 'विवाह' न करने की बात तो निभ ही नहीं सकती है, उस सूरत में तो—जघन्य पाप तक में प्राणी धँस जाता है। हाँ—'सन्तान' पर 'भार' डालकर 'निवृत्त' होना कुछ ठीक है—बशर्ते कि 'दिल' ऐसा बन जाय। भगवान् ऐसा बानक बनादें।

सुख की व्याख्या हो गई। अब 'आनन्द' की बात लिखता हूँ—आनन्द बाहर नहीं है—अपने ही में है। अपने भीतर है। सर्वव्यापक ब्रह्म को—'सत'—'चित्'—और 'आनन्द' (सच्चिदानन्द) कहते हैं। उसीका अंश जब जीव है—तो निश्चय ही 'आनन्द' रूपी वस्तु भी उसे स्वतः ही प्राप्त है। स्त्री, पुत्र, धन, धाम, भोजन, भोग आदि में जो क्षणिक आनन्द मिलता है—वह क्या है? वह एक प्रकृति की सूचना है। वह बताती है कि—"तेरे भीतर जो आनन्द है—वही आनन्द इन नाशवान वस्तुओं में तुझे लुभा लुभाकर—

बार-बार जगा रहा है—कि सोनेवाले जाग ! और देख कि यह आनन्द – जो बाह्य सुखों में तुझे भासता है—बाह्य सुख में है या तुझमें ? इस स्वप्न के आनन्द को तू जागृति में तबदील कर। एकान्त में बैठकर—विचार कर, मनन कर,—अपने आप ही में अपना ध्यान जमा। यही जीवन का परम लाभ है। यही मनुष्य की अन्तिम शान्ति है। इस जगह पहुँच जाने पर—प्रत्येक अभ्यासी को –'सदा प्रसन्न राघव' का—'प्रसन्नता' (आनन्द) वाला परम-प्रसाद अवश्य ही प्राप्त होता है।

अब मैं फिर पुस्तक के विषय पर आता हूँ। 'सनेमा संसार' को कुछ सुधार सकूँ—यह मेरी ख्वाहिश—रोज़ रही। पर मैंने इस कार्य के लिए अपने को 'कमज़ोर' पाया।

मनुष्य धन और भोग विलासों का ग़ुलाम है। भारत के 'सनातन धर्म' ने सदैव पत्नीव्रत, पातिव्रत को माना ही नहीं — हज़ारों बरस तक चलाया भी है। पर विदेशों में उसका रूप है केवल आसक्ति (infatuation)। उसी आसक्ति से ओतप्रोत वहाँ की फ़िल्में आईं – और आर्थिक दृष्टि से वे सफल हुईं। बम्बई के 'फ़िल्म व्यवसाइयों' ने भी आर्थिक दृष्टि से उसी मार्ग को ग्रहण किया—और आर्थिक लाभ भी किया। परिणाम यह हुआ कि नवयुवक और नवयुवतियाँ (कालेजों वाले भी) उसी रँग में रँग गए। सुन्दर रूप, लुभावने वस्त्रादि,

कामाग्नि प्रज्वलित करनेवाले ऐक्टिंग, पोज़ (Pose) आदि सामने आने लगे। बस—भारत का 'सनातन-धर्म' कराह उठा और विदेशी सभ्यता ने 'अट्टाहास-पूर्वक' 'विजय' का 'नाद' किया।

अर्द्धशिक्षित और अशिक्षित दूकानदार, मज़दूर, रिक्शा वाले-टाँगेवाले तो पूरे डूब गए उस वैतरणी में। उधर बाज़ारों में, सड़कों पर— खुली हुई दो दो चोटियाँ और कामुकता बढ़ाने वाली पोशाकें बिखरने लगीं, होटलों में हास-विलास के साथ साथ भोजन और मद्यपान बढ़ने लगा। तभी विदेशी सभ्यता ने गरज कर कहा—

"एकहि धर्म, एक व्रत, नेमा—
होटल, बोतल और सिनेमा॥"

मैंने जो नवयुवतियों की खुली हुई—दो चोटियों का—ज़िक्र किया है—उसका अर्थ यह नहीं है कि मैं लम्बे-लम्बे घूँघटों को अच्छा समझता हूँ, या बुर्क़े का हिमायती हूँ। 'युगधर्म' के अनुसार—पर्दा मैं भी नहीं चाहता हूँ—पर—पर्दाफ़ाश भी नहीं चाहता। मेरी राय में मुँह खुला ही रहना चाहिये—पर सिर के ऊपर साड़ी रहे। जैसी कि 'गुजराती महिलाओं' के सिर पर साड़ी रहती है—और मुँह खुला रहता है। या जैसा कि माता 'कस्तूर बा' का तरीक़ा था।

साड़ी ?—साड़ी तो स्त्री की मान-मर्यादा की एक बड़ी वस्तु है—जिससे उसके सिर के बाल ढके रहते हैं। सिर से साड़ी का उतरना—भारतीय-संस्कृति में 'लाज' का जाना है। 'द्रौपदी' की साड़ी जब सिर से उतरी थी—तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण को उसकी रक्षा करनी पड़ी थी—पर—आज देखता हूँ कि नवयुवतियाँ स्वयं अपने सिर की साड़ी को—अपने ही हाथों से उतार रही हैं—यह मेरी राय में—अच्छा नहीं है।

सिनेमा की ख़राबियों को—स्वनामधन्य शेठ गोविन्ददास तक अपनी 'आदर्श' कम्पनी बनाकर और 'धुआँधार' जैसा 'फ़िल्म' निकालकर न रोक सके। कलकत्ते के—'देवकी बाबू' तक 'श्रीराम, कृष्ण' सम्बन्धी तथा और भी कई उत्तम सामाजिक 'चित्र' निकालकर आर्थिक दृष्टि से बम्बई के फ़िल्म व्यवसाइयों को न पछाड़ सके—तो मैं क्या चीज़ हूँ ? मेरा उद्योग भी क्या है ?—'नक़्कारख़ाने में तूती की आवाज़।'

'दिल्ली क्लाथ ऐण्ड जनरल मिल्स' के सञ्चालक 'सर श्रीराम' से मेरी ४० वर्ष से मुलाक़ात है। वे भी इसी ख़याल के हैं कि कम से कम श्रीराम और श्रीकृष्ण के चरित्र तो विशुद्ध और पवित्र एवं सुन्दर रूप से 'चित्रपट' पर आजायें। परन्तु वैसा ही डाइरेक्टर मिले, ऐक्टर-ऐक्ट्रेसेज़ मिलें—वेषभूषा, सेटिंग, म्यूज़िक की व्यवस्था हो, यह सब उलझनें आज के 'फ़िल्म संसार' में उलझनें ही हैं। फिर इन उलझनों को

सुलझा कर भी—६-७ लाख रुपया लगाकर भी—'पहला चित्र' निकाला भी जाय—तो आर्थिक दृष्टि से उसके असफल होने का भय– उस भय से किसी प्रकार कम नहीं—जो भय कि विश्वामित्र को अपने यज्ञ के पहले—मारीच सुबाहु से था।

कई बार 'सर श्रीरामसाहब' से मेरी बातें हुईं, कुछ किया भी, पर अन्त में—'ख़ामोशी' ही अख़्तियार करनी पड़ी।

यद्यपि 'श्रीराम' और 'श्रीकृष्ण' सम्बन्धी पहले भाग पूर्ण रूपेण मेरे पास लिखे धरे हैं। वही क्या—'सुदामा'-'धना भगत' की 'कथायें'— एक-दो सामाजिक स्टोरियाँ- 'सुख कहाँ' और 'उद्धार' भी तैयार हैं। पर या तो कालान्तर में मेरे उत्तराधिकारी उन्हें प्रेस से प्रकाशित कर देंगे—या अल्मारी ही में 'दीमक' चाट जायगी।

मेरा यह 'नाटक काल' गए गुज़रे काल ही की स्मृति' है अब तो नाटकों का भी रूप बदल गया है। 'एकाङ्की नाटक' या एक ही सीन (सेटिंग) के नाटक, या बिना गान, नृत्य के नाटक चल पड़े हैं। केवल ऐक्टिंग ही को प्रधानता दी जा रही है। यह लहर भी 'पश्चिमी' है। अन्यथा हमारे नाटकों में तो सङ्गीत की प्रधानता रही है। 'गीतं, वाद्यं, तथा नृत्यं, त्रयं सगीतमुच्चते' के साथ साथ - हमारे नाटक मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद होते रहे हैं।

आज के बदले हुए नाटकों में—स्त्री का पार्ट स्त्री ही करे—यह प्रथा पूर्ण रूप में चल पड़ी है। अन्यथा इसी विक्रमशती के प्रारम्भ में—यहाँ के क्लबों तक में—स्त्री का पार्ट पुरुष ही करते रहे हैं। महामना मालवीयजी महाराज ने स्वयं कालिदास की शकुन्तला में 'शकुन्तला' का पार्ट किया था—जबकि उन के अनुज श्यामसुन्दरजी मालवीय दुष्यन्त बने थे।

मेरे ज़माने में भी कावसजी खटाऊ ने—अपनी 'पारसी अल्फ्रेड नाटक मण्डली' में और मैडन थिएटर्स ने 'करिन्थियन' (कलकत्ता) में ऐक्ट्रेसों की भरमार की थी;—आर्थिक लाभ की दृष्टि से। पर- उस ज़माने में भी बिना ऐक्ट्रेस वाली 'न्यू अल्फ्रेड' और 'सूर विजय' नाटक कम्पनियाँ डटी रहीं और शान के साथ डटी रहीं। उन कम्पनियों ने 'जनता' को अपना पसन्द का बनाया और जनता उनकी पसन्द की बनी। तभी तो उनके नाटकों को देखने-- जनता सपरिवार दौड़ती थी। बहन भाई एक साथ बैठकर उनके नाटक देखते थे। 'व्याकुल भारत कम्पनी' बुद्धदेव वाली) भी उसी ढँग पर चलाई गई थी। ऐक्ट्रेसें उसमें भी नहीं रक्खी गई थीं।

पुरुष और स्त्री का—नायक नायिका बनना—एक प्रकार पत्नी और पति ही बनना है। सिनेमा में तो फिर भी वे दोनों पर्दे (स्क्रीन) पर रहते और दिखाई देते हैं—पर नाटक के स्टेज पर तो प्रत्यक्ष बोलते, मिलते और ऐक्टिंग करते हैं।

जिसका प्रभाव उन पर भी—और जनता पर भी - कैसा पड़ता है - यह पाठक पाठिकाएँ ही विचारें।

अब मैं अपने लेखक भाइयों से कुछ निवेदन करता हूँ। नाटक के लेखक को 'स्टेज' का पूरा ज्ञान होना चाहिए। 'उच्चारण'—'सङ्गीत'—की भी जानकारी होनी चाहिए। कवित्व (पिंगल के अनुसार) भी ख़ूब जानना चाहिए। कई भाषाएँ पढ़ने के बाद—उन भाषाओं की—अधिक से अधिक पुस्तकें पढ़ते रहना चाहिये। 'पैसे' के लोभ को सामने रखकर—'नाटक-लेखक' नहीं बनना चाहिये। 'नाटक-लेखन' की सच्ची धुन और लगन अगर दिल में हो—तभी 'नाटक-लेखक' बनना चाहिये। नाटक-लेखन में सोचना बहुत पड़ता है—लिखना कम। पहले तो 'कथानक' (स्टोरी) ही बनाने में बहुत डूबना पड़ता है। 'कथानक' (स्टोरी) का महान (Grand) होना ही 'कथाकार' की प्रथम सफलता है। दो अंकी या तीन अङ्की नाटक में—प्रत्येक अंक के कई कई दृश्य बनाने में—सीनरी लगाने के समय का ध्यान रखते हुए—प्रत्येक दृश्य में जनता की दिलचस्पी क़ायम रहे—वह ऊबे नहीं—इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए। अश्लीलता न आने पाए और मनोरंजन क़ायम रहे। चरित्रचित्रण स्वाभाविक होते हुए—ऐसा हो जिससे जनता को कुछ शिक्षा प्राप्त हो। सामाजिक दोषों को चुन चुन कर स्टेज पर लाना—

और जनता को उन दोषों से वाक़िफ़ कराना नाटक लेखक का बड़ा कर्तव्य है। भाषा चमकदार होते हुए भी— सरल इतनी हो कि पात्र के मुख से वाक्य निकलते ही—जनता उसे समझ ले। सम्वाद ही नाटक की सफलता की बड़ी कुँजी कहलाते हैं।

असल में तो—लेखक स्वयं जिस तबीयत का है—उसी का अक्स उसके लेख में आता है। लेखक ही क्यों ? यह बात तो प्रत्येक ऐक्टर पर भी लागू है। तभी तो 'हीरो' और 'विलेन' अलग अलग तबीयत के ऐक्टर स्टेज पर काम करते हैं। इसलिए चरित्रवान् और उच्च विचार का होना—लेखक के लिए बड़ा ज़रूरी है।

जिस संसार में हम आए हैं—वह ख़ुद एक नाटकशाला है। यहाँ अच्छा नट बनने के लिए हमें इस 'कला' से 'प्रेम' करना, इसे सीखना, समझना और फिर अपने व्यवहार में उसे लाना, हमारी बहुत सी बातों में हमें सफलता दिलाता है। इस 'कला' का जानकार—अपना प्रभाव दूसरे पर बड़ी जल्दी डाल देता है, इसमें कोई शक नहीं।

अन्त में—उस सर्वनियन्ता सच्चिदानन्द भगवान् से मेरी यही प्रार्थना है कि भारत की यह प्राचीन कला—भारतीय संस्कृति ही के अनुसार—भारत में—उच्चता के साथ फिर लहलहाए और भारतीयों को सत्पथ दिखाए। ओ३म् शान्तिः।